ECONOMIC LIFE OF NORTHERN INDIA

(2nd C.B.C. – 2nd C.A.D.)

(IN HINDI)

A

Thesis Submitted For the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

OF

UNIVERSITY OF ALLAHABAD

by

Birendra Mani Tripathi

Under the Superivision

OF

Dr. Ranjana Bajpai

Reader

DEPARTMENT OF ANCIENT HISTORY

CULTURE & ARCHAEOLOGY

UNIVERSITY OF ALLAHABAD

ALLAHABAD

2001

पुरोवाक्

उत्तर भारत के इतिहास में द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर दूसरी शदी ईसवीं का काल प्राचीन भारतीय इतिहास में राजनीतिक विश्रृंखलन का काल रहा है। इस काल में महान मौर्य-साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर शुंग, कण्व, सातवाहन जैसे राजवंशों का उदय हुआ जो मौर्य साम्राज्य की भाँति ने तो सुविस्तृत थे और न ही उनकी प्रशासनिक व्यवस्था मौर्यो की भाँति सुदृढ़ थी। वस्तुतः वे क्षेत्रीय प्रमुत्व-सम्पन्न शक्तियाँ थी। इसी अवधि में हिन्द यवन शक-कुषाण आदि विदेशी राजवंशों ने आक्रांता के रूप में अपने-अपने साम्राज्य को स्थापित किया। इस काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि आर्थिक जीवन एवं अर्थतंत्र की प्रगति पर समकालीन राजनीतिक परिदृश्य का कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। जिसका प्रधान कारण सम्भवतः यह रहा है कि उत्तर-भारत में स्थानीय एवं विदेशी जो भी शासक सिहासनारूढ़ हुए उनकी नीति आर्थिक क्षति पहुँचाने में नहीं, बल्कि आर्थिक रूप से सुदृढ़ स्थायी राज्य स्थापित करके आर्थिक तत्वों एवं साधनों की निरन्तरता को विकसित कर उनका उपयोग साम्राज्य के सुदृढ़ीकरण के लिए करना था। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण शक-सातवाहनों के मध्य हुए संघर्ष में व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर सम्प्रभुता स्थापित करने की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के रुप में दृष्टिगोचर होता है।

अनुसंधान की दृष्टि से इस काल के आर्थिक इतिहास की जानकारी मुख्यरुप से भारतीय धार्मिक एवं धर्मेत्तर साहित्य, बौद्ध एवं जैनों के पालि, प्राकृत, संस्कृत में लिखे गये ग्रथों, तत्कालीन राजाओं के अभिलेखों, मुद्राओं तथा

पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त भौतिक अवशेषों से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त रोमन सम्बन्धों को सिद्ध करने वाले सिक्कों एवं विभिन्न स्थलों से प्राप्त पुरावशेषों की बहुलता तथा धार्मिक कार्यो के लिए दिये गये दान-पत्रों की प्राप्ति के साथ-साथ भरहुत, बोधगया, साँची, मथुरा, कौशाम्बी जैसे बौद्ध स्थानों पर स्थापित बिहारों, मठों के तोरणद्वारों पर उत्कीर्णित अभिलेखों में विभिन्न भारतीय श्रेणी-संगठनों द्वारा दिये गये दान की धन राशियों के उल्लेख भी इस पक्ष पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते है। इस सम्बन्ध में विदेशी यात्रियों विशेषतः प्लिनी के विवरणों से भी जानकारी मिलती है। इसके अतिरिक्त अधुनातन शोध कार्यो में प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के डॉ0 आर0 सी0 मजूमदार ने 'कारपॅरेट लाईफ इन ऐसियंट इण्डिया' (1918) में श्रेणियों के रूप में संगठित आर्थिक गतिविधियों की महत्ता को प्रदर्शित करने की चेष्ठा की है एन0सी0 बन्धोपाध्याय ने 'इकनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐंश्येन्ट इण्डिया (1945) में भूमि व्यवस्था, कृषि उद्योग एवं व्यापारिक गतिविधियों के आधार पर प्राचीन भारत के आर्थिक विकास का विधिवत अध्ययन प्रस्तुत किया है। एच0 जी0 रालिशन ने 'इण्टरकोर्श विटविन इण्डिया एण्ड दी वेस्टर्न वर्ल्ड' (1916) में प्राचीन काल से लेकर रोम के पतन तक भारत और यूनानी-रोमन साम्राज्य के व्यापारिक सम्बन्धों का विवेचन किया है। लेकिन इनके शोध में आलोचित काल के बारे में बहुत कम उल्लेख मिलता है। मार्टीमर ह्वीलर ने 'रोम वियांड इम्पीरियल फंटियर्स (1934) में भारत रोमन साम्राज्य के बीच होने वाले व्यापार में आयात निर्यात के वस्तुओं की चर्चा की है। लेकिन नवीन अनुसंधानों के आलोक से इस विषय की पुनः विवेचित करने की आवश्यकता है। ए0 एन0 बोस ने 'सोशल एण्ड रूरल इकोनामी 'आफ

नार्दन इण्डिया' (1945) में औद्योगिक वस्तु, उद्योगों के संगठन, व्यापारी माप तौल प्रणाली, व्यापारिक मार्ग तथा राज्य नियंत्रण के आधार पर ग्रामीण अर्थव्यवस्था एवं व्यापार व्यवसाय का अध्ययन प्रस्तुत किया है। मोती चन्द्र ने 'सार्थवाह' (1953) मुख्य रूप से स्वदेशी कृतियों के आधार पर प्राचीन व्यापारिक गतिविधियों का वर्णन किया है। जी0 एल0 अढ़या ने 'अर्ली इण्डियन इकोनामिक्स (1966) में व्यापार के अन्तर्गत मुख्य रूप से भारत एवं रोम के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध का विवेचन किया है। वासुदेव उपाध्याय ने भारतीय मुद्रा के इतिहास पद प्रकाश डाला है। यू0एन0 घोषाल ने 'काँट्रीब्यूशंस टू द हिस्ट्री आफ रेबन्यू सिस्टम' (1929) में वैदिक काल से 1200 ई0 तक का अध्ययन प्रस्तुत किया। जो अधिकाशत: मौर्य काल को समर्पित है। इसमें मौयोत्तर काल के बारे में बहुत कम उल्लेख है लेकिन उपरोक्त शोध-ग्रथों में आद्युनातन पुरातात्विक समाग्रियों तथा आलोचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आलोचित काल के ऊपर प्रकाश डालने वाले साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्यों, दोनों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर नवीन रूप में विवचेना करने का प्रयास किया गया। शोध प्रबन्ध कुल छः अध्यायों में विभक्त हैं प्रथम अध्याय भूमि व्यवस्था से सम्बन्धित है जिसमें भूज्ञस्वामित्व, भूमि विभाजन, भूमि अनुदान तथा भूमि की बिक्री आदि का विवेचन किया गया है। दूसरा अध्याय कृषि व्यवस्था से सम्बन्धित हैं जिसमें कृषि के उपकरण, कृषि की विधियाँ, भूमि का विभाजन, बीज, खाद तथा सिचाई के बारे में विवेचन किया गया है। तीसरा अध्याय उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित है। जिसमें तत्कालीन उद्योग-धन्धों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। चौथे अध्याय

में श्रेणी व्यवस्था का विवेचन किया गया है। पाचवाँ अध्याय वाणिज्य व्यापार से सम्बन्धित है। जिसमें आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार का विवेचन किया गया है। छठो अध्याय में राजस्व व्यवस्था का विवेचन किया गया है, से सम्बन्धित है। जिसमें राजस्व के विभिन्न उदग्रहण का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध डॉ0 रंजना बाजपेई के कुशल निर्देशन का प्रतिफल है। इस कार्य्र की पूर्णता में उनका योगदान अविस्मरणीय है, जिसके लिए मैं उनका चिरऋणी रहूँगा। एक लम्बें समय तक उनके सानिध्य में रहकर आवश्यकता से अधिक समय लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर विद्याधर मिश्र का विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से मेरा उत्साह बढ़ाया तथा प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त विभाग के अवकास प्राप्त वरिष्ट गुरूजन प्रो0 बी0 एन0 एस0 यादव, प्रो0 यू0 एन0 राय, प्रो0 एस0 एन0 राय, प्रो0 एस0 सी0 भट्टाचार्या, प्रो0 आर0 के0 द्विवेदी, डॉ0 (श्रीमती) गीता सिंह, तथा वर्तमान गुरूजनों में प्रो0 ओम प्रकाश, डॉ0 आर0 पी0 त्रिपाठी, डॉ0 जी0 के0 राय, डॉ0 जे0 एन0 पाण्डेय, डॉ0 जे0 एन0 पाल, श्री ओ0 पी0 श्रीवास्तव, डॉ0 पुष्पा तिवारी, डॉ0 अनामिका राय, डॉ0 ए0 पी0 ओझा, डॉ0 यू0 सी0 चट्टोपाध्याय, डॉ0 डी0 पी0 दूबे, डॉ0 सी0 डी0 पाण्डेय, डॉ0 दीप कुमार शुक्ला डॉ0 हर्ष कुमार, डॉ0 शशिकान्त राय तथा अन्य गुरूजनों का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने समय समय पर परामर्श एवं प्रेरणा प्रदान की। डॉ0 विमल चन्द्र शुक्ल (रीडर) यूविंग क्रिचियन डिग्री कालेज का

विशेष रूप से आभारी हूँ जिनका सुझाव एवं मार्ग दर्शन हमेशा मुझे प्राप्त होता रहा है।

इसके अतिरिक्त विभाग के अग्रज, डॉ0 प्रदीप कुमार केशरवानी, डॉ0 अवनीश मिश्रा, डॉ0 इन्द्र भूषण द्विवेदी, डॉ0 राजेश कुमार मिश्र, डॉ0 एम0 सी0 गुप्ता तथा सहपाठी डॉ0 मनोज मिश्र का भी आभारी हूँ जिन्होंने अपना सहयोग एवं मार्गदर्शन मुझे दिया। प्राचीन इतिहास विभाग के समस्त कर्मचारियों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने हमेशा मेरे कार्यो के सम्पादन में अपना योगदान दिया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लेखन में पूजनीय पिता जी एवं माता जी ने जिस प्रकार से सामाजिक तथा पारिवारिक उत्तरदायित्वों को अपने उपर लेकर मेरे कार्य निर्विध्न समाप्ति के लिए अपना पवित्र आशीर्वाद प्रदान किया, उसके लिए मै जन्म जन्मात्तर तक उनका उऋण नही हो सकता। साथ ही बड़े भाई श्री राकेश मणि त्रिपाठी एवं भाभी श्रीमती विमला त्रिपाठी ने सदैव मुझे प्रोत्साहन दिया उसके लिए मै उनका आभारी हूँ। अनुज कामेश मणि त्रिपाठी तथा भतीजे अंकुर मणि त्रिपाठी ने साथ रहकर शोध-कार्य के पूर्व होने में जो सहयोग दिया उसके लिए वे स्नेह के पात्र है। मेरी धर्मपत्नी श्रीमती मीरा त्रिपाठी धन्यवाद की पात्र है जिन्होंने निरन्तर शोध कार्य की पूर्णता हेतु सहयोग तथा प्रोत्साहन दिया। इसके अतिरिक्त श्री राजेश कुमार मिश्रा तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सरोज मिश्रा जिन्होंने मुझे पुत्रवत् स्नेह दिया, उनका भी मै हृदय से आभारी हूँ मधु मिश्रा, रितू मिश्रा, आशीष, भी स्नेह के पात्र है जिन्होंने मुझे हमेशा पारिवारिक सदस्य के रूप में सम्मान और प्यार दिया।

शोध-प्रबन्ध के लेखन में प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, गंगानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय तथा लखनऊ विश्वविद्यालय आदि पुस्तकालयों से मुझे विशेष रूप से सहायता मिली। मै इनके लिए अधिकारियों एवं कर्मचारियों को धन्यवाद देता हूँ बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय में कार्यरत श्रीमती प्रभा त्रिपाठी को भी विशेष रूप से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मेरे लिए अतिरिक्त समय निकाल कर शोध-सामग्री उपलब्ध करवाने में सहायता की।

अन्त में शोध प्रबन्ध के टंकड हेतु शेखर यादव का भी आभारी हूँ जिन्होंने अत्यल्प समय में अपना बहुमूल्य समय देकर इसे पूर्ण किया।

(बीरेन्द्र मणि त्रिपाठी)

विषय-सूची

प्रथम-अध्याय

भूमि व्यवस्था

भूमि व्यवस्था

भूमिस्वामित्व

भूस्वामित्व सम्बन्धी अवधारणाओं एवं परम्पराओं का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद एवं उत्तरवैदिक कालीन साहित्य में मिलता है। परन्तु भूस्वमित्व से सम्बन्धी नियम बनाने का सर्वप्रथम श्रेय धर्मसूत्रकारों को है। इन नियमों को अनुवर्ती कालों में स्मृतिकारों, टीकाकारों तथा अन्य लेखकों ने विकसित, संशोधित एवं परिवर्धित किया।

प्राचीन काल में भूस्वामित्व सम्बन्धी तीन पृथक अवधारणाओं का उल्लेख मिलता है। 1. व्यक्ति विशेष का स्वामित्व 2. राजा का स्वामित्व 3. सामूहिक स्वामित्व। ये तीनों मत न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र सदैव प्रचलित रहे।

1. **व्यक्तिगत स्वामित्व :** व्यक्ति विशेष के भूस्वामित्व में भूमि का क्रय-विक्रय, बन्धक रखने, विभाजन करने एवं दान देने आदि का अधिकार शामिल है। मैकडानेल एवं कीथ, बाडेनपावेल, के0पी0 जायसवाल, पी0एन0 बनर्जी, यू0एन0 घोषाल तथा लल्लन जी गोपल आदि विद्वानों का मत तर्क संगत प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में भूमि पर व्यवहारिक रूप में कृषक का ही स्वामित्व होता था।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत भूक्षेत्र के पारस्परिक मतभेद का वर्णन किया है तथा व्यक्तिगत भू-स्वामित्व का उल्लेख किया है। कौटिल्य

ने भूमि के बिक्री से सम्बन्धित मुकदमें उसके स्वामी का स्पष्ट उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि एक व्यक्ति खेत के स्वामी की अनुमति के बिना अपना पशु उसके खेत से होकर निकाल रहा था।[1] अर्थशास्त्र में सीमा सम्बन्धी मुकदमों का उल्लेख है।[2] कौटिल्य ने दूसरे के खेत पर सिंचाई के लिए कुआ या नाली बनाने के नियम दिये है।[3] यही नहीं कौटिल्य ने खेत को बेंचने गिरवीं रखने के नियम दिये है[4] तथा कौटिल्य ने दूसरे के खेत को यदि दूसरा कोई व्यक्ति जबरदस्ती अपने अधिकार में ले ले तो उसके लिए दण्ड का उल्लेख किया है[5]। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि यदि कोई व्यक्ति किसी उचित कारणवश दूसरे के खेत में खेती करले तो स्थिति पर पूर्ण विचार करके राजा को खेती करने वाले से खेत के स्वामी को कुछ धन किराये के रूप में दिलवाना चाहिए।[6] इसप्रकार कौटिल्य भूमि के वैयक्तिक अधिकार का समर्थन लिया है।

मनु कुछ अंशों में व्यक्तिगत स्वामित्व का समर्थन करते हुए लिखते है कि-"पुराविद लोग इस पृथ्वी को पृथु की भार्या मानते है। खुत्य (दूढ) पेड़ काटकर (भूमि को समतल करके) खेत बनाने वाले का खेत मानते है तथा जिसने पहले बाण से ,आहत किया हो उसी का (हिरन) मृग[7] मिलिन्दपञ्हों" के अनुसार जो व्यक्ति जंगल को साफ कर खेती करता है वही उस भूमिखण्ड का

---

1 कौटिल्य; 3, 9, 7 ।
2 कौटिल्य; 3, 10, 26 ।
3 कौटिल्य; 3, 9, 15, 23 ।
4. वही0 3, 9, 1-9, 19-20, 4, 10, 8-10 ।
5. कौटिल्य 3, 12, 8 ।
6 कौटिल्य 3, 9 ।
7. मनु0 9, 44, पृथोपीमां पृथ्वीं भार्यां पूर्वविदो विदुः। स्थावुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ।।

स्वामी माना जाता है।[1] बृहस्पति, याज्ञवल्क्य आदि अन्य स्मृतिकारों ने भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का समर्थन किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति-(100-300 ई0) से पता चलता है कि भूमिपर स्वामित्व होने के लिए अधिकार (भोग) और अधिकार पत्र (आगम) दोनों होना आवश्यक है। इसी तरह के विचार बृहस्पति ने भी व्यक्त किया है।[2] 'नारद' का विचार है कि यदि खेत का मालिक कही चला गया है उसकी अनुपस्थिति में कोई अन्य व्यक्ति उस खेत को जोत लेना है और खेत का स्वामी फसल तैयार होने के पहले आ जाय तो फसल तैयार होने तक दूसरा व्यक्ति जितना धन खर्च किया, उतना धन देकर अपना खेत वापस ले सकता है।[3] नारद (100-400ई0) बृहस्पति[4] ने लिखा है कि जिस भूखण्ड पर किसी व्यक्ति का तीस वर्ष से अधिक अधिकार रहा है वह उसका स्वामी हो जाता है। गौतम और मनु का विचार है कि भूमि का स्वामी भूमि का प्रयोग अपनी इच्छानुसार कर सकता था। उसे बेच सकता था तथा गिरवीं रख सकता था। दान कर सकता था।[5]

मनु के एक श्लोक पर भाष्य करते हुए मेघातिथि ने व्यक्तिगत भूस्वामित्व का समर्थऩ किया है।[6] देशोपदेश के अनुसार एक कृपण के पास

---

1 मिलिन्दपन्ह; पृ0 210 जातक 4, 167 रमायण 2, 32 30,
2 बृहस्पति स्मृति; 7, 24, 9, 22।
3 नारद; 11, 23-25 उद्धत लल्लन जी गोपाल (पृष्ठ सं0 49)
4 बृहस्पति; 7, 27-28 ।
5 गौतम; 10, 39 ।
6 मेघातिथि, मनु0; 8.99 ।

इन्ति जातानजातांश्च हिरण्मायऽनृतं वदन् ।
सर्व भूम्यन्तते हन्ति मा स्म भूम्यन्ततं वदीः ।।

पत्नी, द्रव, दव्य, गृह और भूमि सम्पत्ति के रूप में थी। जिसका दूसरे उपयोग करते थे।[1] इस प्रकार भूमि या व्यक्ति विशेष का स्वामित्व प्रतीत होता है।

2. भूमि पर राजा का स्वामित्व : सम्पूर्ण राज्य का राजा मालिक होता था और समस्त अधिकार उसके हाथ में निहित होता था। अधिकांश प्रारम्भिक साहित्यिक साक्ष्यों से पता चलता है कि राजा राज्य की प्रत्येक चल और अचल सम्पत्ति का मालिक होता था। ऋग्वेद से पता चलता है। कि राज्य की जनता 'बलि' नामक कर राजा को प्रदान करती थी।[2]

ग्रीक लेखको ने भी भूमि पर राज्य के स्वामित्व स्वीकार किया है। स्ट्रैवो ने लिखा है कि किसानो को राज्य मजदूरी के रूप में उपज का चौथाई भाग देता था।[3] डायोडोरस ने मेगस्थनीज के वर्णन के आधार पर लिया है जब किसान अपने बैल और औजार काम मे लाते थे तो उन्हे उपज का चौथा भाग राज्य को भूराजस्व के रूप में देना पड़ता था। दोनों में सिर्फ अन्तर इतना है कि डायोडोरस ने उन खेतो का वर्णन किया है जो राज्य की सम्पत्ति नही थे तथा स्ट्रैवों ने उन खेतों के बारे में लिया है जिनका स्वामी राज्य था।

शतपथ ब्राह्मंण में उल्लेख मिलता है कि जनता की सहमति से राजा जो भूमि भाग किसी को देता था वह उचित दान होता था[4] इससे स्पष्ट होता है कि कभी-किसी व्यक्ति का निजी भूमि खड नही हो सकता था, जिसका पूरा समुदाय स्वामी होता था। यद्यपि भूमि खण्ड का स्वामी एक व्यक्ति समझा जाता

---

1 देशापदेश; 2, 6 ।

2 ऋग्वेद; ग 173 6 ।

3 स्ट्रैवो; 15, 1, 40 ।

4 शतपथ ब्राह्मण ; 7, 11, 8, 17, 3, 4 ।

था। राजा पृथ्वी की रक्षा करता था। अतः वह भूपति, पृथ्वीपति, आदि कहलाता था। इसलिए राजा को भी आंशिक रूप से पृथ्वी का स्वामी समझा जाता था। 'मनु'[1] के अनुसार पृथ्वी में गड़े धन (विभिन्न वस्तुए) का आधा भाग राजा प्राप्त करें क्योंकि वह पृथ्वी का स्वामी है कौटिल्य की तरह मनु भी राजतन्त्र का समर्थक और साम्राज्यवादी सिद्धान्त का अनुमोदक था। गौतम के अनुसार राजा ब्राह्मण को छोड़कर राज्य की प्रत्येक वस्तु का स्वामी होता था। इस प्रकार वह राजा को ही भूमि का स्वामी मानता है। मिलिन्दपन्हों के अनुसार राजा सभी नगरो, बन्दरगाहो आदि का स्वामी होता है।[2]

कुछ विद्वानो ने कौटिल्य के दो उद्धहरण और बृहस्पति के एक कथन का उल्लेख करते हुए राजा को भूमि का स्वामी माना है। कौटिल्य के अनुसार जो व्यक्ति खेतों में कृषि न करें राजा उनके खेतो को जब्त कर ले।[3] लेकिन इससे यह नहीं इंगित होता कि राजा सभी कृषि योग्य भूमि का स्वामी था। 'अर्थशास्त्र' में दो प्रकार की कृषि योग्य भूमि का उल्लेख है एक वह भूमि जिसपर राजा के अपने खेत होते थे और दूसरे प्रकार की वह भूमि जिससे राज्य को राजस्व प्राप्त होता था। पहले प्रकार के खेतों से जो आय होती थी, उसके लिए कौटिल्य ने 'सीता' शब्द का प्रयोग किया है और भूराजस्व को 'भाग' शब्द के अन्तर्गत लिया है।[4] पहले प्रकार की भूमि जो राज्य की सम्पत्ति थी, उसकी खेती कृषि अधीक्षक स्वयं या किसानों के निरीक्षण में खेती करवाता

---

1 मनु0 8, 39 निधीनां तु पुराणानां धातूनामेवा च छितौ ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ।।

2 मिलिन्दपन्ह; पृ0 259 ।

3 कौटिल्य; 2, 1, 10 और 1, 14, 3 ।

4. कौटिल्य; 2, 6, 3 ।

था।[1] कौटिल्य ने जिन खेतो को जब्त करने का सुझाव दिया है वे अन्य व्यक्तियों के निजी सम्पत्ति नही थे। वे भूखण्ड इस प्रकार के होते थे जिनपर सरकार नये उपनिवेश बसाती थी।

बृहस्पति का विचार है कि कुछ विशेष परिस्थितियों मे राजा एक व्यक्ति का भूमिखण्ड दूसरे व्यक्ति को दे सकता था लेकिव वह कहता है कि बिना उचित कारण के राजा को किसी के भूखण्ड को दूसरे को नहीं देना चाहिए।[2] नारद ने कहा है कि किसी गृहस्य का मकान और खेत उसके निर्वाह का आधार है, इसलिए राजा को इन दोनो में से किसी को नहीं लेना चाहिए।[3]

अर्थशास्त्र पर भाष्य करते हुए भट्टस्वामी का कथन है कि भूमि और जल दोनों पर राजा का स्वामित्व होता था।[4] इन दोनो को छोड़ कर लोग अन्य किसी भी वस्तु पर अपना स्वामित्व प्रदर्शित कर सकते थे। 'कात्यायन' कहते है कि राजा यदि भूमि का स्वामी नहीं होता तो वह उपज के छठे भाग का अधिकारी कैसे हो सकता था। जिससे स्पष्ट होता है कि राजा समस्त भूखण्डों का स्वामी होता है और उसे भूराजस्व वसूल करने का अधिकार था। राजा के सभी सम्पत्ति के मालिक होने सम्बन्धी मत सबसे पहले महाभारत में व्यक्त किया गया था[5] स्मृतिकारों ने भी इसी मत की पुष्टि की है[6] मनु के अनुसार

---

1 यू0एन0 घोषाल; 'हिन्दू रेविन्यू सिस्टम' पृ0 29 के आगे उद्धत लल्लन जी गोपाल-'हिस्ट्री ऑफ एग्रील्चर इन एंशियन्ट इण्डिया' पृ0 - 72 ।

2 बृहस्पति; 19; 15 के बाद।

3 नारद; 11, 42 उद्धृत ल0जी0 गोपाल उपयुक्त पृष्ठ 44 ।

4. भट्टस्वामी का भाष्य, अर्थशास्त्र; 2.24 राजा भूमैः पतिदृष्टः शास्त्रक्षै रूदकस्य च ।
ताम्यामन्यत्र यद्व्यं तत्र स्वाभ्यं कुटुम्बिनान ।।

5 महाभारत; 12, 77, 2 ।

6 गौतम; 11, 1 ।

भूमि मे दबे जखीरों के आधे भाग का स्वामी राजा होता था।[1] विष्णु के अनुसार भूमि के नीचे सभी बस्तुओं का स्वामी राजा होता था।[2] इस प्रकार सूत्रकारों के काल से पुराणों के माल तक भारतीयों की यह धारणा थी कि राजा उपज का छठाँ भाग इस लिए लेता था क्योंकि वह प्रजा की सम्पत्ति का रक्षा करता था। साहित्यिक ग्रंथों से इसका समर्थन होता है।

मौर्योत्तर काल में अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर हमें ऐसी सूचनाएं मिलती है कि राज्य विभिन्न प्रकार की भूमियों को बड़े-बड़े धार्मिक सम्प्रदायों को दान में दिया करती थी। नासिक गुफा के एक अभिलेख के अनुसार एक बौद्ध उपासक धर्मनन्दिन ने कुछ भिक्षुओं के वस्त्रो के लिए जो नासिक की गुफा में रहते थे, अपना खेत दान में दिया था। कार्लेगुफा के अनुसार उषवदात ने सोलह गाँवों का राजस्व देवताओं, ब्राह्मणों, और तपस्वियों पर खर्च किया जाता था। वे इन गांवों के स्वामी नहीं हो गये।[3] वाशिष्ठीपुत्र-पुलमावि के दानपत्र तीन विशिष्ठ तथ्य परिलक्षित होते थे।[4]

1. वह गाँव उस गुफा में रहने वाले भिक्षुओं को दान में दिया जिससे इस गाँव का लगान उस गुफा में रहने वालो के उपर खर्च किया जा सके।

---

1 मनु० 8, 39, याज्ञवल्क्य 2, 34-35 नारद 7, 6-7 ।

2 विष्णु० 3, 55 ।

3. नासिक गुफा अभि० सं० प्लेट -3।

4 नासिक गुफा अभि० सं० 3 प्लेट- 2 ।

2. उस गाँव में राजकीय कर्मचारी और पुलिस कर्मचारी नहीं घुसेगें अर्थात (लगान या जुर्माना वसूल करने के लिए और राजा के नमक एकाधिकार के लिए)।

3. राजा चाहेगा तो उसदानपत्र को रद्द कर देगा।

गौतमीपुत्र शातकर्णि के दानपत्र में इन्ही उन्मुक्तियों का उल्लेख है। अस्तु इस अभिलेख में दान में खेत दिया गया है न कि गाँव। जिससे प्रतीत होता है कि खेत किसी अन्य व्यक्ति का न होकर राजा का निजी खेत था। गाँव में स्वामित्व नहीं बदलता था खेत में स्वामित्व बदलता था। जुन्नर अभिलेख के अनुसार अनेक गावों के स्वामियों ने इसलिए भूमिदान में दिया था कि उनके राजस्व की आय पुण्य कार्यो में लगाई जा सके।

3. समुदायिक स्वामित्वः

स्ट्रैवों के अनुसार सम्भवतः पंजाब में कुछ कबीलों के परिवार खेती करते थे। जब फसल कट जाती थी, तो प्रत्येक व्यक्ति वर्ष भर के निर्वाह के लिए कुछ अनाज ले जाता था। लेकिन अर्थशास्त्र में सामुदायिक स्वामित्व का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

महाभारत[1] से पता चलता है कि उत्तर कुरू और अति प्राचीन काल मे कुछ देश[2] में किसी व्यक्ति की अपनी भूमि नहीं होती थी। गाँव की समस्त कृषि योग्य भूमि के स्वामी गाँव के सभी निवासी होते थे। 'दीघनिकाय' में भी इसी प्रकार के कल्पित समाज का वर्णन मिलता है।[3] कुछ जातकों के वर्णन में कुछ खेत गाँव की सम्पत्ति प्रतीत होते है।[4] गाँवों के चारागाह (वज्र) गाँव की सामुदायिक सम्पत्ति होते थे। मनु के अनुसार गाँव के चारो ओर 100 घनुष (लगभग 600 फुट) भूमि गाँव की सामूहिक सम्पत्ति होती थी।[5] कौटिल्य के अनुसार यह सामुदायिक भूमि गाँव के चारो ओर 800 अगुल होती है[6] कुणाल-जातक के सात होता है कि शाक्यों और कोलियो के सामुदायिक खेत थे। सामुदायिक खेतों के स्वामी कुछ राज कुल थे। उन्होंने खेती का निरीक्षण करने के लिए कुछ अधिकारी नियुक्त कर रखे थे। मजदूरी का काम कुछ दास या

---

1. महाभारत; 6, 6, 13 ।
2. महाभारत- 1, 68 ।
3 दीर्घ निकाय; 32, 7 ।
4 जातक; 2, 109 क आगे।
5 मनुष्मृति; 8, 237 के आगे।
6 कौटिल्य; 8, 10 ।

दासियाँ करते थे[1] इस प्रकार के उल्लेखें से स्पष्ट होता है कि भूमि के स्वामी संयुक्त रूप से सभी राजकुल थे। ये लोग लगान पर भूमि किसानों को खेती करने के लिए देत थे, या कुछ भूमि खण्डों को बाँट लेते थे। लेकिन उनपर स्वामित्व सबराजकुलों का सामुदायिक माना जाता था।

आर0 पी0 बसाक महोदय का विचार है कि भूमि का स्वामी गाँव होता था तो उसे उस भूमि को दान ने देने के लिए प्रजा के प्रतिनिधियों की अनुमति लेने की क्या आवश्यकता थी। लेकिन हमको यह भी ध्यान देना चाहिए कि ग्रामवृद्ध भी बिना राजा की अनुमति के भूखण्डों को न तो वेच सकते थे न भूखण्डों को दान में ही दे सकते थे। इस प्रकार उसकी विक्री के लिए दोनों की सहमति की आवश्यकता थी। एक अभिलेख से पता चलता है कि दान में देने के वावजूद बिक्री की मूल्य का छठाँ भाग राजा को मिला। वसाक के अनुसार बिक्री मूल्य का 5/6 भाग ग्राम सभा को मिला, क्योंकि भूमि की वास्तविक स्वमिनी ग्राम-सभा होती थी। रमेशचन्द्र मजूमदार तथा अनन्त शिवराम अल्टेकर ने वसाक के मत का समर्थन किया है। रमेश चन्द्र मजूमदार का विचार है ग्राम सभाए ग्राम की समस्त भूमि की स्वामी होती थी और वहीं गाँव की ओर से राजस्व देने की उत्तरदायिनी होती थी। यदि किसी भूमि खण्ड का स्वामी अपना कर नही देता था तो वह भूमि गाँव सभा की हो जाती थी। वह उस भूखण्ड को बेचकर राज्य का कर अदा कर देती थी।[2] अल्टेकर के अनुसार भूखिण्ड का स्वामी व्यक्ति विशेष या परिवार होते थे। राज्य गाँव की कृषि योग्य भूमि का स्वामी नही होता था। कुछ विद्वानों का मत हे कि भारतीय

---

1 जातक-5, 412 के आगे ।

2 कारपोरेट लाइफ पृ0 186 ।

विधि शास्त्र में स्वामित्व और प्रयोग करने के अधिकार में अन्तर स्पष्ट नहीं है किन्तु जैसा कि जाली का मत है कि ऐसा समझना मूल है स्मृतिकारों ने स्वामित्व को स्पष्ट करने के लिए 'स्वत्व' शब्द का प्रयोग किया है केवल प्रयोग के अधिकार क लिए उन्होंने 'भोग' शब्द का प्रयोग किया है। नारद और कात्यायन का मत है यदि किसी व्यक्ति ने तीन पीड़ियाँ से अधिक काल तक किसी सम्पत्ति का भोग किया होतो वह व्यक्ति उस सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है। लेकिन भोग के समय के बारे में स्मृतिकार एक मत नही है। गौतम, मनु-10 वर्ष, याज्ञवल्क्य 20 वर्ष और बृहस्पति, विष्णु, कात्यायन और नारद 60 वर्ष तक के समय के बाद व्यक्ति सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि भूमि की माँग बढ़ी। स्मृतिकारों ने स्वामी के हितो की रक्षा करने के लिए प्रयोग करने पर स्वामित्व प्राप्त करने की अवधि बढ़ा दी। अतः स्पष्ट है कि भूमि स्वामित्व के लिए अभी और विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

इस प्रकार भूस्वामित्व से सम्बन्धित उपलब्ध साक्ष्यों की समीक्षा से जो सामान्य निष्कर्ष हमार सामने आता है वह कुछ स्वरोधी और सरलीकृत लगता है। पर उपलब्ध साक्ष्य इसी ओर इंगित करते है कि भूमि पर राजा और प्रजा दोनों का अधिकार था। सैद्धान्तिक पक्ष के अनुसार भूमि पर राजा का अधिकार होता था। लेकिन कृषि के व्यवहारिक पक्ष की समीक्षा के बाद पता चलता है कि भूमि अलग-अलग व्यक्तियों के अधिकार में थी। जिसका वे स्वेक्षा पूर्वक आदान-प्रदान कर सकत थे।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय शताब्दी ईसा पूव्र से द्वितीय शती ईसवी के बीच व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रधानता थी। पतंजलि ने देवत्व को भूमि की सीमा बतायी है।[1] मनु राजा को सर्वोपरि मानता है और भूमि का स्वामी कहता है लेकिन इससे अभिप्राय स्वत्व से नहीं व्यवस्था से है। मनु कहते है कि रास्ते में जाते समय यदि राजा को निधि मिल जाय तो आधा ब्राह्मण का होता है। तथा आधा राजा का होता है[2] यहाँ पर राजा का अधिकार स्वामी कान होकर रक्षक का प्रतीत होता है। उसने खेत को पत्नी कहा है और क्षेत्रपति को स्वामी। जो कि खेत को बेंच तथा खरीद सकता है, उसे गिरवी रख सकता है।[3]

दूसरे के खेत में बीज बोने से न कोई खेत वाला हो सकता है न उसका उत्पादन ले सकता है, जब तक कि स्वामी से तय न हो कि व उसका खेत बोयेगा। मनु गाँव ओर खेतों की सीमा की बात करते हैं तथा उनका विचार है कि इस पर विवाद होने पर बृद्धों, जनसमूह तथा पड़ोसियों के द्वारा इसको तय किया किया जाना चाहिए। मनु के अनुसार राजा को भी इन्ही के सहायता से इनका झगड़ा निपटाना चाहिए। मनु किसी व्यक्ति के द्वारा सीमा के उलंघन को दण्डनीय अपराध मानते हैं। याज्ञवलक्य ने लिखित विवरण के आधार पर खेत बेचने या रूपये के लेन देन का उल्लेख किया है। यहाँ पर वह धारक के अधिकार को मानता है और उसके उल्लेख को मान्यता देता है। अगर असली

1 'कापीहेंसिव हिस्ट्री आफ विहार' वायल्यूम - 1 पे0 83 Ed. B P Sinha

2 मनु0 8.3 ।

3 वही0 9.45 ।

स्वामी खेत को नहीं बेचता तो बिक्रय निरर्थक माना जाएगा।[1] अगर किसी की भूमि पर अधिकार हो पर व कागज में स्वामी न हो तो उसके अधिकार का कोई महत्व नहीं होता।[2] पशु के चरने के लिए गोचर भूमि होती थी पर यदि किसान के खेत न घेरने से पशु उसका खेत चर जाय तो राजा का दोष नहीं होता था। अतः स्पष्ट होता है कि गोचर जहाँ सामुदायिक भूमि होती थी वहीं बस्ती की भूमि व्यक्गित स्वत्व की होती थी।

मिलिन्दपञ्हों में कहा गया है कि जो जंगल की भूमि को साफ करके खेत बताता है। वही उसका स्वामी होता है। गाँव के भू-स्वामियों पर गाँव का प्रधान कर लगाता था। राजा का अधिकार नगरों, खानों, बन्दरगाहों आदि पर था। दिव्यावदान में राजा को मंत्री सलाह देते है कि राज्य को सुरक्षित रखने से ही राजा कर' प्राप्त कर सकता है। यह कृषकों के कठिन परिश्रम का संकेत देता है इससे भूमि पर व्यक्तिगत स्वत्व प्रमाणित होता है।

अभिलेखीय साक्ष्यों से भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का पता चलता है। खारवेल के अभिलेख में उल्लेख प्राप्त होता है कि उसने अपने काम में लगाए गये करीगरों कों उनके भूमि कर से मुक्ति दे दी थी। नासिक गुहा लेख में उसवदात द्वारा भूमि के दान का वर्णन है। जिसे उसने ब्राह्मणों से खरीदा था। निगम के अनुसार अनेक अभिलेखीय प्रमाण राजस्व की बात करते हैं। पर व्यवहार में व्यक्तिगत स्वत्व का ही चलन था।

---

1 याज्ञवलक्य स्मृति ; 8/99

2. याज्ञवलक्य स्मृति ; 8/200

भूमि विभाजन

विवेच्य काल में जहाँ तक भूमि विभाजन का प्रश्न है तो इस काल के स्रोत-ग्रन्थों में भूमि के विभाजन के बारे में कोई स्पष्ट सूची नहीं मिलती। लेकिन इस काल के ग्रन्थों में, कुछ सन्दर्भो में यन्त्र-तन्त्र भूमि की कोटियों की तरफ संकेत किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि के विभाजन के सन्दर्भ में प्राचीन काल से चली आ रही भूमि विभाजन की प्रकृया इस काल में भी जारी रही।

वैदिक कालीन साहित्य में तीन प्रकार की भूमि का उल्लेख प्राप्त होता है।

1. मकानों की भूमि (वस्तु)

2. कृषि योग्य भूमि जिसे 'क्षेत्र' कहा जाता था

3. चारागाह भूमि

ऋग्वेद के दो सूत्रों से पता चलता है कि मकानों को स्वामियों की निजी सम्पत्ति समझा जाता था। इन दोनों सूक्तों में मकानों का स्वामी अपनी सुरक्षा और समृद्धि के लिए प्रार्थना करता है, एक दूसरे सूक्त में जुआरी सब कुछ खोकर दूसरे के मकान में शरण लेता है और दूसरे के अच्छे मकान देखकर उसे बहुत दुःख होता है। छादोग्यउपनिषद में मकानों का निजी सम्पत्ति के रूप में वर्णन किया है।

इस काल के स्रोत ग्रंथों में उल्लेखों के आधार पर पता चलता है कि गाँवों मे चार प्रकार को भूमि पायी जाती थी। 1. रहने योग्य भूमि 2. खेती योग्य भूमि 3. परती या उसर भूमि 4. चारागाह भूमि।

अमरकोश जो कि बहुत बाद का ग्रथ है में भूमि का विभाजन निम्न प्रकार से किया है। 1. उपजाऊ (उर्वरा) 2. बंजर (उसर) 3. रेगिस्तान 4. परती (अप्रहृत) 5. घास के मैदान (शादवल) 6. कीचण (पैक्लि) 7. पानी भरी (जल प्राप्यमनुपम) 8. पानी के निकट की (कच्छ) 9. ककरीली (शंकरा) 10. रेतीली (शकरावर्ती) 11. नदी से सींची जाने वाली (नदी–मात्रक) 12. वर्षा जल से सींची जाने वाली (देवमात्रक)।

यद्यपि यह विभाजन 'अमरकोश' में मिकला है। लेकिन हो सकता है कि यह विभाजन काफी पहले से चला आ रहा हो और आगे चलकर अमरकोश में उसे सूची का रूप दिया गया हो। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि 'गोप' जो कि गाँवों का समक्ष अधिकारी था, खेतों के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यौरा अपने रजिस्टर में तैयार करता था कृषि योग्य भूमि एवं अयोग्य भूमि, पथरीली तथा नीची भूमि, साढ़ी, गेहूँ, चावल, ईख, केले की खेती के योग्य, बाग–बगीचों तथा जंगल के योग्य भूमि।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में उसर, बंजर तथा उर्वर भूमियों के लिए कमशः अकृष्ट, स्थल एवं कृष्ट शब्दों का प्रयोग किया है। मनु कहते हैं कि उपजाऊ खेत में बोया गया बीज उत्तम पौधा उत्पन्न करता है। जब कि 'उसर' भूमि में बोया गया बीज फलित होने से पहले ही नष्ट हो जाता है। इसीलिए

बीज और खेत दोनों उत्तम होने चाहिए (मनु0 9/69-71)। नारद[1] के अनुसार जिस भूमि-खण्ड में एक वर्ष से खेती न की गयी हो, वह अर्धखिल, कहलाती है तथा जिसमें तीन वर्ष खेती न की गयी हो उसे 'खिल' कहा जाता है और जिस जमीन में पाँच वर्ष खेती न की गयी हो हो उसे वन ही कहा जा सकता है। 'खिल' के साथ अप्रहत का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः 'खिल' का अभिप्राय उस भूमि से है जिसमें पहले खेती होती थी, और 'अप्रहत' से अभिप्राय उस भूमि से है जिसमें कभी जुताई नहीं हुई।[2]

मिट्टी की प्रकृति के अनुसार 'चरक' ने भूमि को तीन कोटियों में विभाजित किया है।[3]

1. **जंगल (वन्य प्रदेश) :** जहाँ पर स्वाभाविक रूप से अपने आप औषधियां उपजती थी।

2. **अनूप :** कृषि के लिए सम्भवतः सबसे उपयोगी यही भूमि थी।

3. **साधारण :** ऐसा प्रतीत होता है कि चरक द्वारा भूमि का विभाजन औषधीय आधार पर किया गया था।

'आवश्यकचूर्णि[4] में 'हल्य भूमि के दो प्रकार के दो प्रकार बतलाए गये है।

1. उद्गात- काली भूमि
2. अनुदगात- पथरीली भूमि

---

1 नारद' 11, 26

2 सचीन्द्र कुमार मैटी; ''इकनोमिक लाइफ इन नार्दन इण्डिया''

3 चरक संहिता (कल्प स्थान) पृ0 सं0 35

4. आवश्यक चूर्णि; 2, पृ0 77।

काली भूमि में वर्षा होने पर जल वही पर रूका रहता था बहता नहीं था। जबकि पथरीली भूमि में यह व्यवस्था नहीं थी। पथरीली भूमि अपेक्षा कृत कम उपजाऊ थी। जलीय भूमि में फसलों की अपेक्षा अनाजों का उत्पादन अधिक होता था।

पतंजलि के अनुसार रेह या नमकीन मिट्टी वाली भूमि 'उसर' या बंजर कहलाती थी। पतंजलि ने गोचर (चारागाह), ब्रज (पशुशालाएं) व गोष्ठ बाड़े को इसी भूमि में बनवाने का उल्लेख किया है। मनु ने बीज के निष्फल होने के सन्दर्भ में 'उसर भूमि' का उल्लेख किया है। 'परती' तथा जंगली भूमि चारागाह हुआ करते थे।

बंजर तथा परती भूमि के अतिरिक्त अरण्य जंगल अथवा वन तथा मरू भी अनुपजाऊ भूमि के एक प्रकार थे। जिसभूमि में स्वयं उपजने वाली फसले, घास तथा वायु घूप अधिक हो ऐसी भूमि को जंगल कहा जाता था।[1]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विवेच्य काल में भूमि विभाजन के बारे में हमें कोई निश्चित सूची नहीं मिलती लेकिन इस काल के स्रोत ग्रंथों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भूमि का विभाजन, उपजाऊपन एवं अनुपजाऊपन के आधार पर किया जाता था। हो सकता है कि मौर्य काल तक भूमि विभाजन को समस्त कोटिया इस काल में भी जारी रही हों।

---

1 अश्वघोष; सौन्दरान्द काव्य; 1/10।

'भूमि-अनुदान'

भूमि-अनुदान में सामान्यतया अधिकार पत्र (चार्टर) का जिन तत्वों से सरोकार होता था-वे दाता, दानग्राही दान की गयी भूमि, अधिकारी वर्ग, राज वित्तीय कर, अनुदान का अवसर और अनुदान का उद्देश्य। अन्तिम भाग मैं अधिकांश अनुदानों में विरोधियों को 'शाप' दिये जाते हैं और अनेक प्रबन्ध-कर्ता (वसीयत को कार्यान्वित करने वाले अधिकारी) और कातिब के नाम का उल्लेख मिलता है। अनुदान पत्रों में दान देने वाले के पाँच, छह पीढ़ियों तक उसकी वंश परम्परा का विवरण दिया जाता था। अनुदान में उसकी विजयों का विवरण रहता था। लेकिन उसकी पराजय का उल्लेख नही मिलता है। भूमिदान पत्रों में दानग्राहियों के बारे में विस्तृत जानकारी का उल्लेख मिलता है। जो कि अधिकांशतः ब्राह्मण होते थे। भूमिदानपत्रों में उन अधिकारियों की सूची मिलती है जिन्हें भूमिदान की सूचना दी जाती थी। को नाम और पदनाम का भी उल्लेख किया जाता था। भूमि-अनुदान पत्रों में इस बात का भी उल्लेख किया जाता था कि भूमि या ग्राम का अनुदान किस अवसर पर दिया जाता था।

भूमिदान के अधिकार पत्रों में अनुदान के आशय और प्रयोजन का भी स्पष्ट उल्लेख किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि दाता स्वयं अपने तथा अपने पूर्वजों तथा परिवारिक सदस्यों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए भूमि का अनुदान करता था। धर्म के काम एवं वृद्धि और पूर्वजों की प्रतिष्ठा को बार-बार अनुदान के मूल अभिप्राय के रूप में पेश किया गया है किन्तु भूमि या गाँव

इसलिए दिये जाते थे, ताकि उन्हें पाने वाले कुछ धार्मिक कृत्य पूरे कर सके। तथा अग्रहार नाम से विख्यात धार्मिक शैक्षिक संस्थायें चला सकें।

मन्दिरों, मठों, बौद्ध विहारों, तथा जैन वसदिसों, को अनुदान इसलिए दिये जाते थे कि वे धार्मिक, शैक्षिक कार्य करके तथा दीन दुखियों की सहयता कर सके।

अब प्रश्न उठता है कि भूमिदान जिसको दिया जा सकता है? कौटिल्य[1] ने उल्लेख किया है राजा निम्नलिखित व्यक्तियों को भूमिदान में दे सकता है।

1. ब्राह्मणों को इस शर्त के साथ कि यदि वे दान-पत्र की शर्तो का पालन नहीं करेंगे तो राजा दी हुई भूमि वापस ले सकेगा।

2. राज्य के उन अधिकारियों को जा दी हुई भूमि की आय को दान कार्यो में व्यय करें।

3. रानियों और राजकुमारों को उपहार के रूप में।

4. अधिकारियों को वेतन के बदले जब तक वे सेवा में रहे उसका उपभोग करने के लिए।

5. उन व्यक्तियों को जो सेना की टुकड़ियां देने का बचन दे महाभारत के अनेक प्रसंगों में भूमिदान की प्रशंसा का उल्लेख प्राप्त होता है।

---

1 कौटिल्य 2,1

नासिक गुफा[1] के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि एक बौद्ध उपासक धर्मनन्दिन ने कुछ भिक्षुओं के वस्त्रों के लिए जो नासिक की गुफाओं में रहते थे, अपना खेत दान में दिया था। कार्ले गुफा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसवदात ने 16 गाँव, देवताओं, ब्राह्मणों और तपस्वियों को दान में दिया था। इस उल्लेख से यह पता चलता है कि इन गाँवों का राजस्व देवताओं ब्राह्मणों और तपस्वियों पर खर्च किया जाता था। लेकिन इससे वे इन गाँवों कें स्वामी नही हो गये।

वशिष्ठी पुत्र पुलमावि के दान पत्र[2] में तीन विशिष्ट तथ्य परिलक्षित होते हैं।

1. वह गाँव गुफा में रहने वाल भिक्षुओं को दान में दिया। जिससे कि उस गाँव का लगान उस गुफा में रहने वालों पर खर्च किया जा सके।

2. उस गाँव में राजकीय कर्मचारी और पुलिस कर्मचारी नहीं घुसेंगे अर्यात लगान या जुर्माना वसूल करने के लिए, तथा राजा के नमक के एकाधिकार के लिए

3. राजा चाहेगा तो उस दान पत्र को रद्द कर देगा।

गौतमी पुत्र शतकर्णी के दान पत्र में उन्हीं उन्मुक्तियों का उल्लख है।[3] लेकिन इस अभिलेख में दान खेत में दिया गया है, न कि गाँव। उपरोक्त कथन

---

1 नासिक गुफा अभिलेख संख्या 9 प्लेट-3

2 वही0 प्लेट-2

3 नासिक गुफा अभिलेख संख्या-3 प्लेट-2

या उल्लेख का यही अर्थ निकाला जा सकता है कि यह खेत किसी अन्य व्यक्ति का न होकर राजा का ही था। गाँव में स्थामित्व नहीं बदलता था खेत में स्वामित्व बदलता था। इससे स्पष्ट होता है कि राजा अपने निजी खेत को ही ब्रह्मदेय दान के रूप में किसी व्यक्ति को दे सकता था।

नासिक के अभिलेखों में जिन गाँवों के दानों का उल्लेख है उनसे स्पष्ट होता है कि उन्हें सरकार को भूमिकर नहीं देना पड़ता था। परन्तु कुछ अभिलेखों में दानी के दान प्राप्त करने वाले को कुछ अन्य उन्मुक्तियों भी दी है- जैसे नासिक अभिलेख संख्या-तीन में उल्लेख मिलता है कि दान में दिये गये गाँव में कोई सरकारी अधिकारी प्रवेश नही करेगा। उनमें से कोई भिक्षुओं को नही छुएगा तथा नमक नही खोदेगा, जिला पुलिस उसके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेगी। इस प्रकार उन्हें ये सब उन्मुक्तियाँ मिलती हुई थीं[1] इस अभिलेख में यह कहा गया है यह गाँव 'अक्षयनीवी के रूप में दिया गया था, जिसका अर्थ है कि उस गाँव की आय का भिक्षु सदा उपयोग कर सकते थे। परन्तु वे उसे न तो बेच ही सकते थे और न तो उसे अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित ही कर सकते थे। अत: इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि उन्हें केवल गाँव की जमीन का उपभोग करने का अधिकार था बेचने तथा दूसरे को अपना अधिकार देने का उन्हें अधिकार प्राप्त नहीं था।

---

1 'एपिग्राफिक इण्डिया' 8 प्र0 67

जुन्नर अभिलेखों से पता चलता है कि अनेकों खेतों के स्वामियों ने अपने खेतों को इसलिए दान में दिया कि उस खेत से प्राप्त होने वाली आय को पुण्य कार्यों में लगाई जा सके।[1]

राजा को समस्त भूमि का स्वामी माना जाता था। इसलिए राजा दान में दिये हुए गाँव में भी राजा चोरों आदि या जुर्माना कर सकता था। लेकिन दान पाने वाला व्यक्ति या अन्य कोई संस्था जिसको कि गाँव दान में मिला है वह गाँव में किसी प्रकार का नया कर नही लगा सकता था।

जो गाँव अक्षयनीवी के रूप में दान में दिये जाते थे उनको दान प्राप्त करने वाला व्यक्ति न तो गिरवी ही रख सकता था तथा न उसे बेंच सकता था। जब कोई व्यक्ति खेत खरीद कर दान में देना चाहता था तो उसे उसके राज्य के अधिकारियों से अनुमति लेनी पड़ती थी इस रूप में भी राजा समस्त भूमि का स्वामी होता था यदि दान प्राप्त करने वाला दान-पत्र की शर्तो को पूरा नहीं करता था, तो राजा उस गाँव या भूमि खण्ड को वापस ले सकता था। जब कोई भूमि खण्ड दान में दिया जाता था तो इसकी सूचना गाँव के मुखिया, ब्राह्मणों, प्रतिष्ठित व्यक्तियों, सरकारी अधिकारियों आदि को दी जाती थी जिससे की उस भूमि अनुदान से किसी व्यक्ति पर अन्याय न हो।

अतः स्पष्ट है राजा लोग ब्राह्मणों को गाँव दान में देते थे परन्तु उसका अर्थ यह नही है कि वो ब्राह्मण गाँवों के स्वामी हो जाते थे। इसका केवल इतना ही अभिप्राय है कि वे ब्राह्मण उनसे होने वाली आय का उपभोग

1. लूडर्स लिस्ट 1162, 1163, 1164, 1167 उद्धृत लल्लन जी गोपाल; हिस्ट्री आफ एग्रीकल्चर इन इण्डिया पृ0 64।

कर सकते थे। जो भूमिकर और अन्य देय धन किसान पहले राजा को देते थे, अब वे वह उन दानग्रहीता ब्राह्मणों को देनेलगे, जिनको कि ये दान मिले थे।[1] हाँ जिन भूमिखण्डों का स्वामी राजा होता होगा उनके स्वामी ये दान ग्रहीता ब्राह्मण हो जाते होंगे। दान के दिये गाँवों से दूर के स्थानों पर रहने वाले ब्राह्मणों के लिए इन गाँवों में खेती करना अति दुष्कर कार्य था।[2]

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर स्पष्ट है कि राजा के एक खेत दान में देने और गाँवदान में देने में अन्तर था। दान दिये खेत का स्वामी दान पाने वाला व्यक्ति हो जाता था, जबकि दान दिये गाँव की आय का उपयोग करने का अधिकार मात्र उसे मिलता था।[3]

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर हम कह सकते कि विवेच्य माल में भूमि अनुदान के बारे में जो सूचना मिलती है वह दक्षिणी पश्चिमी भारत से ही मिलती हैं। उत्तर भारत के बारे में ऐसी किसी सूचना का प्रत्यक्ष उल्लेख नही मिलता है। हॉ अन्य क्षेत्रों व्यापार, आवागमन की सुविधा तथा अन्य समस्त क्षेत्रों में उत्तर-भारत तथा दक्षिण भारत में विकास तथा समृद्धि एक साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर थी तो हो सकता है कि भूमि अनुदान की प्रथा का उत्तर-भारत ने भी प्रचलन रहा हो, लेकिन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें नही मिलता। यह अनुमान का विषय ही है।

---

1 एपिग्राफिका इण्डिका; 2 सं0 30, 28, सं0 47, 4 सं0 16, 12, सं0 1, 26 सं0 18, 23, सं0 3, 9 सं0 21, 39, उद्धृत लल्लन जी गोपाल 'हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन इण्डिया' प्र0-66

2 एपिग्राफिका इण्डिका सं0 15 सं0 11 वी0 12, 17 सं0 7वी, 19सं0 20 21 पृ0 108, 9 सं0 45 कौटिल्य 3, 10, 15 उद्धृत लल्लन जी गोपाल 'हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन इण्डिया' पृ0 68।

3 लल्लन जी गोपाल; - हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन इण्डिया प्र0 68।

कुषाणकालीन भूमिव्यवस्था के बारे में जो सामग्री उपलब्ध है वह न के बराबर है। आक्सस से लेकर बनारस तक कुषाणों का शासन था। लगभग दूसरी शदी के एक अभिलेख से पता चलता है कि यज्ञ में पुरोहिती करने वाले ब्राह्मणों को एक गाँव दान में दिया गया था जो शायद इलाहाबाद के आस-पास था।[1]

कनिष्क ओर उसके बाद आने-वाले अनेक शासक बौद्धधर्म के उत्साही समर्थक थे, किन्तु यदि उन्होंने बौद्ध साधुओं को भूमि अनुदान में दी हो तो उसके कोई दस्तावेज हमारे पास उपलब्ध नही है। सम्भवतः कुषाणों ने भू-धारण-अधिकार की 'अक्षयनीवी' प्रणाली शुरू की, जिसका आशय है भू-राजस्व का स्थायी दान। सम्भवतः इस तरह की दान की गयी भूमि पर कर नही लगता था। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि अक्षयनीवी भूधारण अधिकार के अनुसार भूमि अनुदान की शुरूआत ईसा की पहली दो शताब्दियों के दौरान कुषाण काल में ही शुरू हो चुकी थी। जिसका आगे चलकर गुप्त काल में अत्यधिक विकास हुआ।

यद्यपि विवेच्य कालीन अभिलेखों में प्रशासनिक अधिकारियों को अनुदान में भूमि दिये जाने का उल्लेख नही है फिर भी मनुस्मृति (लगभग 200 ईसा पूर्व-200ई0) में ऐसे राजस्व अधिकारियों को भूमि दिये जाने का प्रावधान किया गया है जिनके अधीन एक, दस, बीस, सौ अथवा एक हजार गाँव हों। इससे स्पष्ट होता है कि इन अधिकारियों के अधिकार में बहुत बड़ा भू-भाग होता था, जिसके लगान से वे अपना जीवन यापन करते थे। इस प्रकार हम कह सकते है कि विवेच्य कालीन भूमि व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि अनुदान से सम्बन्धित जानकारी बहुत अल्प है। इसके लिए और अनुसंधान की आवश्यकता है।

---

1 एपिग्राफिका इण्डिया; एपिग्रधिका इण्डिका XXIV पृ0 245-52

भूमि का बिक्रय

विवेच्य कालीन स्रोतों से भूमि के बिक्री से सम्बन्धित कुछ ही यथार्थ सूचनाएं मिकती हैं। प्राचीन स्मृतियों में भूमि-बिकय से सम्बन्धित नियम का उल्लेख मिलता है। जिसमें कहा गया है कि भूमि बिकय के लिए आवश्यक है कि भूमि बेचने वाला भूमि का वास्तविक मालिक हो। यदि वह भूमि का वास्तविक मालिक नहीं होता था तो ऐसी भूमि की बिक्री अवैध मानी जाती थी। कौटिल्य ने अपने ग्रथ अर्थशास्त्र में उल्लेख किया है कि भूमिस्वामित्व भूमि के बेचने के अधिकार को प्रगट करता है। कौटिल्य के अनुसार यदि भूमि का वास्तविक स्वामी अपनी सम्पत्ति दूसरे के द्वारा आनन्द के लिए प्राप्त करता है तो उसके प्रतिकूल उसके प्रार्टी का वैध पत्र प्राप्त करना चाहिए। यदि भूमि का कय करने वाला व्यक्ति भूमि के वास्तविक से जमीन लिया है, यदि नहीं तो भूमि का स्वामी उसे वापस ले सकता है मनु कहते है कि भूमि के वास्तविक स्वामी के साथ सहमति लिये बिना भूमि वेचता है तो वह भूमि का बिकय अवैध होता है। इस प्रकार भूमि के स्वामी से बिना सहमति प्राप्त किये कोई व्यक्ति भूमि-कय करता है, तो वह अवैध होता है।

विवेच्य काल में विभिन्न प्रकार की भूमि जैसे खेती योग्य, उसर बगीचा ओर जंगल इत्यादि प्रायः बेचीं जाया करती थी। जातक तथा ब्राह्मण में प्राप्त उल्लेखों से पता चलता है कि "पेड़ को काटकर जो व्यक्ति भूमि बनाता है" यह घटना सूचित करती है कि जंगल की भूमि राज्य के द्वारा बेंची जाती थी। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि राज्य भूमि को बेंच सकता

है। राज्य के दस्तावेज में प्रत्येक प्रकार की भूमि के विक्रय का राज्य रिकार्ड में अंकित किया जाता था।

भूमि उपहार के रूप में भी राजा के सम्बन्धित व्यक्तियों को दिया जाता था। यदि वे राज्य से सम्बन्धित व्यक्ति भूमि के खरीदने में रूचि नहीं लेते थे, तो भूमि दूसरे व्यक्ति को बेंचने के लिए प्रस्तुत की जाती थी दोनों पक्षों के इनकार करने पर भूमि धनी व्यक्ति को बेंच दी जाती थी। भरहुत अभिलेख में एक लेख से पता चलता है कि अनाथपिण्डक राजकुमारजेत से एक बगीचा बुद्ध संघ को दान देने के लिए खरीदा था। पूर्वकालिक स्रोत कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी भूमि खरीदने और बेंचने के कुछ नियमों का उल्लेख मिलता है। उनके अनुसार सम्पूर्ण गाँव की अनुपस्थिति में 'गोप' की अनुमति के बिना बेची गयी भूमि की बिक्री अवैध है। कौटिल्य कहते हैं कि अच्छे परिवार के चालीस चुने हुए व्यक्ति को भूमि खरीदने और बेचने में उपस्थिति होना चाहिए। बगीचे, झील, इत्यादि ऐसी सभी डिस्टीप्यूट भूमि से बिकय के लिए सभी 40 व्यक्तियों को उपस्थित होना चाहिए। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि यदि घरों के बगल एकान्त ने, जंगल में, या गुप्त स्थान पर किया जाता था तो अवैध माना जाता था। भूमि, बगीचे आदि का क्षेत्र गाँव के मुखिया के द्वारा था पड़ोसी गाँव के द्वारा घोषित किया जाता था। भूमि के मूल्य का तीन बार वाचन किया जाता था यदि कोई विरोधी नही खड़ा होता था तो सबसे ऊँची बोली बोलने वाले को भूमि दे दी जाती थी।

इस प्रकार उपरोक्त उल्लेखों से भूमि की बिक्री से सम्बन्धित कुछ यत्र-तत्र ही उल्लेख प्राप्त होता है।

द्वितीय-अध्याय

कृषि-व्यवस्था

कृषि व्यवस्था

(1) कृषि के उपकरण

द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में कृषि काफी उन्नतिशील अवस्था में पहुँच चुकी थी तथा कृषि के उपकरणों का विकास हो चुका था। लोगों को लोहे का ज्ञान हो चुका था।[1] चूँकि लोहा काफी मजबूत धातु होता था। इस लिए लोगों ने लोहे के विभिन्न प्रकार के उपकरणों का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था। लोहे के औजारों के कारण कृषि की स्थिति काफी बदल चुकी थी।[2] इस युग में अधिकांश उपकरण लोहे के बने होते थे। कृषि के महत्वपूर्ण उपकरणों में हल, कुदाल, फावड़ा हंसियाँ आदि का प्रयोग तो वैदिक काल से थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ चला आ रहा था। लेकिन जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया उनके आकार-प्रकार में श्रेष्ठता आती गयी। लोगों ने अपनी आवश्यकता के अनुसार कुछ नये-नये उपकरणों का विकास किया।

---

1. शर्मा आर0एस0; "लाईट आन अर्ली इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकानामी" पृ0-57-58 (लोहे के तिथि की जानकारी पुरातात्विक स्रोतों से 1000ई0पू0 और कृषि के उपकरणों के रूप में प्रयोग 6000 ई0पू0 के लगभग निश्चित की गयी है।)
2. वही; पृष्ठ-60

कृषि से सम्बन्धित महत्वपूर्ण उपकरणों में सबसे पहले हल का उल्लेख किया जा सकता है जो कि सबसे प्राचीन उपकरण था।[1] वैदिक काल से ही इसे हलि, नित्य[2] सीर[3] लागंल[4] सील[5] आदि नामों से जाना जाता रहा है। पाणिन ने हल के आधार पर ही कृषकों की कोटियां (अहलि, सुहलि, और दुर्हलि) निर्धारित करके कृषि के क्षेत्र में इस प्राचीन औजार के महत्व को सिद्ध कर दिया है[6]। महाकाव्यों में वर्णित प्रत्येक यज्ञ का शुभारम्भ के लिए अनिवार्य रूप से, यज्ञभूमि का हल से शोधन[7] इस उपकरण के महत्व को और भी स्पष्ट कर देता है जैसा कि रामायण में राजा जनक यज्ञ-विधान के अंतर्गत हल चलाते हुए दिखाई देते हैं[8], और वहीं पर उन्हें अपनी सीता की प्राप्ति होती है। महाभारत में राजा दुर्योधन भी वैष्णव यज्ञ के समय हल द्वारा यज्ञ-भूमि का विलेखन करते देखे जाते हैं।[9] बलराम को हलायुद्ध कहा गया है[10] साथ ही कृष्ण भी स्वयं को भू-कर्षण (कृषि कर्म) करने वाला व्यक्ति कहने में अपना गौरव समझते है[11] ग्रीक मान्यताओं में जो महत्व डायोनियस को दिया जाता है, हिन्दू

---

1. राव, विजय ,बहाहदुर; ''उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति'' पृष्ठ 50 (यद्यपि डा0 राव ने हल के पूर्ण, कृषि के उपकरण के रूप में कुदाल के अस्तित्व को स्वीकार किया है। लेकिन पुरातात्विक स्रोतों के अभाव में यह अमान्य है।)
2. अष्टाध्यायी-3/1/117
3. ऋग्वेद-10/101/3
4 वही0 -10/101/4
5 कपिष्ठल संहिता-28/8
6 पाण्डेय, विमलचन्द्र- ''भारत वर्ष का सामाजिक इतिहास'' पृष्ठ-20
7 व्यास, नानूराम : ''रामायण कालीन समाज'' पृष्ठ सं0 212
8 रामायण 1/66/14-15
9 महाभारत बन0 241/30, 242/2
10 महाभारत शल्य0,- 36/34-36
11. महाभारत शान्तिपर्व; 330/14 ''कृषामि मेदिनी पार्थमूत्वा कार्ष्णायसो महान्''

मान्यताओं में वही बलराम को।[1] महाकाव्यों के इन उद्धरणों से कृषि के लिए हल की उपयोगिता व महत्व तो स्पष्ट हो जाता है साथ ही यह भी विदित होता है कि राजाओं एवं इन महापुरुषों के द्वारा हल चलाने के उदाहरणों में उन दिनों जनमानस को अत्यधिक प्रभावित किया होगा।[2] यही नहीं उन दिनों हल को एक ऐसे देवता के रूप में भी माना जाता था, जिसके सम्मान में शीत-यज्ञ नामक उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था[3]। आवश्यक व सम्मान सूचक वस्तु होने के कारण ही मनु ने हल चुराने वाले व्यक्ति के लिए राज्य द्वारा देश काल व कर्म के अनुसार कठोर दण्ड विधान किया है।[4] कृषिजन्य समस्त खाद्यान्न हल द्वारा ही उत्पन्न होते थे, इसलिये सम्भवतः मनु ने अहिंसात्मक भावना का पोषण करते हुऐ, संन्यासियों को कृषि द्वारा उत्पन्न कोई भी खाद्यान्न किसी भी स्थिति में भोजन के रूप न ग्रहण करने की सलाह दी है।[5]

इस प्रकार उपरोक्त वर्णनों के आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते है कि किसानों का उन दिनों प्रधान उपकरण हल ही था। जिसको 'कुलिय' और 'नंगल' भी कहते थे। यद्यपि हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि 'कुलिय' और 'नंगल' हल के प्रकार थे या नहीं लेकिन अधिकतर सम्भावना यही दिखायी पड़ती थी कि ये हल के प्रकार ही थे। जैसा कि डा० जगदीश चन्द्र जैन ने उपयोगिता एवं बनावट की

---

1 आई० एच० क्यू० भाग-10, पृष्ठ-288

2. व्यास, नानूराम : "रामायण कालीन समाज" पृष्ठ-212

3. रामायण 1/66/14 महाभारत द्रोण० 105/19 मोभिल गृहयसूत्र 4/4/28-29 में सीता को हल देवता कहा गया है।

4. मनु०- 9/293

5. मनु०- 6/16

दृष्टि से 'हल' से कुलिय का पृथकत्व स्थापित करते हुए लिखा है कि कुलिय सौराष्ट्र में प्रचलित एक विशेष प्रकार का हल था जो खेतों की धास काटने के काम आता था। दो हाथ प्रमाण लकड़ी में लोहे की कीले लगी रहती थी और उनमें एक लोह पट्ट जुड़ा रहता था[1] साथ ही कृषकों की सम्पन्नता का अनुमान भी इन्हीं हलों की संख्या से लगाया जाता था। उदाहरणार्थ-वाणिज्य ग्राम के आनन्द गृहपति की धन-सम्पत्तिमें 500 हलों की गितनी की गयी है। अतः सम्पन्न भूमिपतियों के खेतों में अनेक हलों का प्रयोग किया जाता था। तक्षशिला-स्वर्ण-प्लेट अभिलेख में एक विशेष अर्थ में सीर (हल) का उल्लेख आया है।[2]

हल का आकार-प्रकार सम्भवतः वही रहा होगा जैसा कि पाणिन ने अष्टाध्यायी में इंगित किया है।[3] चूँकि हल में लोहे का प्रयोग बौद्ध काल में ही शुरु हो चुका था अतः मौर्योत्तर काल में भी इसका जारी रहना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। वर्तमान समय की भाँति हल बैलों द्वारा खीचे जाते थे। उत्तम कृषि की दृष्टि से उनका मजबूत और धारदार होना आवश्यक था।[4] खेत को जोतने के बाद उसकी आर्द्रता (नमी) को सुरक्षित रखने के लिए एक प्रकार के काष्ठ का प्रयोग किया जाता था।

---

1 उपासक दशा 1 पृष्ठ-67 (एक हल से 100 निवर्तन अर्थात 40,000 वर्ग हाथ जमीन जोती जा सकती थी)

2. स्टेनकोनोव, खरोष्ठी इन्सक्रिप्शन्स, भाग-2, पार्ट 1, पृष्ठ 83-86

3. अष्टाध्यायी-3/2/183 तथा 4/1/42 (अष्टाध्यायी में हल के तीन प्रमुख भागों का उल्लेख है, यथा ईषा या हलस, बीच का भाग पौत्र लोहे की बनी कुशी)

4. मनु0-4/67-68

जिसको बैल खींचते थे और कृषक उसके ऊपर चढ़ा रहता था ताकि खेत की मिट्टी बराबर हो जाय।[1]

हल के बाद कृषक का दूसरा सबसे महत्वपूर्ण उपकरण कुदाल या फावड़ा था। प्राचीनता की दृष्टि से यह हल के सदृश्य ही था। इसका प्रयोग कड़ी भूमि को तोड़ने[2] अथवा हल की जोत से छूटे हुए खेतों के कोनों को खोदने के लिए किया जाता था। भाष्य में इसे खनित्र, आखन, आख, आखर, अखनिक आदि अनेक स्थानीय नामों के रूप में उल्लिखित किया गया है।[3] महत्ता की दृष्टि से मनु ने इसे भी हल की कोटि में रखा है। उत्खन्नों से इनका लौह निर्मित प्रमाणित होता है। कृषक द्वारा कुआँ, बावड़ी, जलाशय आदि कृत्रिम जल स्रोत, कुदाल या फावड़े के सहारे ही खोदा जाता था। अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द काव्य' से पता चलता है जमीन में पत्थर आदि की उपस्थिति के कारण कभी-2 कुदाल या फावड़े खराब हो जाया करते थे। इसके अतिरिक्त फसलों के चारों ओर उगी घास, मोथे आदि को विनष्ट करने के लिए भी कुदाल का प्रयोग किया जाता था। पुरातात्विक साक्ष्यों ,से इस महत्वपूर्ण उपकरण के विकसित स्वरूप का पता चलता है।[4] सिरकप उत्खनन में लगभग प्रथम शती ईसवीं सन् में प्रचलित आधुनिक ढंग के फावड़ों के अवशेष मिले है।[5] महाकाव्यों में भी इनके

---

1 अग्निहोत्री, प्रभुदयाल;-'पंतजलि कालीन भारत', पृष्ठ-254

2 उपासक दशा पृष्ठ-20 'स्फटिकर्मकुदाल हलादिभमिमिदारणेन जीवनम्'।

3 महाभाष्य-3/3/125

4- जी0एल0आढ्या, 'अर्ली इण्डियन इकनामिक्स' पृष्ठ- 42-43

5 मार्शल, तक्षशिला-2 पृष्ठ-538 (मार्शल ने लिखा है कि-"By that time similar spades appeared in the Romans world'd also."

उल्लेख आये हैं जिनकी उपस्थिति ऋषि मुनि की कुटियों[1] एवं युद्ध कालीन शिविरों[2] में अत्यन्त उपयोगी बतायी गयी है।

साहित्यिक ग्रन्थों में अनेक छोटे-2 यंत्रों का उल्लेख मिलता है। पकी हुई फसलों को काटने के लिए कृषक सम्भवतः हँसिये का प्रयोग करता था। फसलों के लाव या लवन[3] के सन्दर्भ में इस महत्व पूर्ण यंत्र का नामोल्लेख अनेकवार हुआ है। महाकाव्यों[4] में हंसिऐ को दात्र तथा जैन साहित्य में असिसहि[5] कहा गया है महत्वपूर्ण समकालीन ग्रन्थ मिनिन्दपञ्हों[6] में वर्णन है किस प्रकार कृषक बाये हाथ में फसलों के काण्ड पकड़े हुए दाहिने हाथ में हँसिया (दातम्) लेकर पके हुए धान्यों का लाव करता था। पुराविदों ने भी इस उपकरण के अस्तित्व को स्वीकार किया है।[7] तक्षशिला के उत्खनन में दो पृथक प्रकार के हंसिए के अवशेष मिले हैं। प्रथम प्रकार के हंसियों की धार कमान दार (टेढ़ी) है। जैसा कि पश्चिमी देशों में पाया जाता है और दूसरे प्रकार के हंसियों की धार सीधी अथवा बिल्कुल खड़ी है।[8] इससे पहले किसी भी साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्य से इस उपकरण के स्वरूप तथा प्रकार के बारे में कोई संकेत नहीं

---

1 रामायण-2/32/29 (ऋषि मुनि कन्दमूल आदि खोदने के लिए कुदाल का उपयोग करते थे)।

2 महाभारत, उद्योग0 152/7-9 (युद्धकालीन शिविरों के अस्त्र-शस्त्र संग्रह में कुदाल भी एक उपयोगी अस्त्र था)

3. पकी हुई फसलों को कॉंटने को लाव या लवन कहते है।

4. रामायण 2/80/7, महाभारत, उद्योग0 155/7-9

5. नायधम्मकहा 7/86

6 मिलिन्दपञ्हों, पृष्ठ-33-34, पुरी, बी0एन : "इण्डिया अण्डर द कुषानाज" पृष्ठ-113

7 सांकर्णलया, एच0डी0; 'प्री-हिस्ट्री एण्ड प्रोटो-हिस्ट्री इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान' पृष्ठ-200-201 तथा 243

8. आदृया, जी0एल0; - 'अर्ली इण्डियन इकनामिक्स' पृष्ठ 42-43

निकलता। ऐसी दशा में तक्षशिला उत्खन्न की यह रिपोर्ट निश्चय ही भारतीय कृषकों के कृषि के उपकरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

मौर्योत्तर काल की प्रमुख फसलों में गन्ना (ईख) का उल्लेख किया जा सकता है। गन्ने की पेराई के लिए कोल्हू[1] नामक यंत्र का प्रयोग किया जाता था। जिस स्थान पर पेराई की जाती थी उसे 'यंत्रशाला' जाता था।[2] जैन साहित्य में यंत्रपीड़न नामक एक उपकरण यंत्र का उल्लेख आया है जिसके द्वारा गन्ना, सरसों आदि पेरे जाते थे। जिसकी गणना 15 कर्मदानों में की जाती थी।[3] अष्टाध्यायी एवं पतंजलि के महाभाष्य में भी फसलों के उल्लेख मिलते है।[4] पेरिप्लस द्वारा उल्लिखित भारत से विदेशों को निर्यात किये जाने वाले खद्यान्नों में 'शकरा' का भी नाम आया है[5], जिससे गन्ने के विशेष उत्पादन तथा उसके पेरने के उपकरण पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। महाभाष्य से पता चलता है कि तेल निकालने वाले कोल्हू को 'तिलपीडनी' कहा जाता था।[6] तेल निकालने के बाद बची हुई खली को 'तिलकूट' कहते थे।[7] तथा तेल पेरने वाले तेली को 'तिलन्तुद'।

---

1. उत्तराध्ययन सूत्र 19/53 : वृहत्कल्पभाष्य पीठिका 575 (गन्ने की पेराई करने का उल्लेख अश्वघोष ने 'सौदरानन्द' 9/32 में किया है)।
2. व्यवहार भाष्य 10/484
3. उपासक दशा. 1, पृष्ठ-11 : जम्बूदीप प्रज्ञाप्तिटीका 3, पृष्ठ-193, वृहत्कल्पभाष्य 2/34 68
4. अष्टाध्यायी-8/4/5 तथा महाभाष्य 5/2/29
5. बोस, ए0एन0; 'सोशल एण्ड सरल इकानामी आफ नार्दन इण्डिया' पृष्ठ-126-27 बोस ने लिखा है "In the periplus among the Exports from the Barygaza to the African ports is hony from Read saechvani (Sarkara Sugar)"
6. महाभाष्य-3/3/126
7. वही 5/2/29

पक्षियों से धान्यों को बचाने के लिए कृषक खेतों में चंचा (घास का आदमी) खड़ा कर देते थे। जिनके डर से पक्षी तथा सियार मृग आदि भाग जाते थे।

मौयोत्तर काल में फसलों की मड़नी या मड़ाई के लिए बैलों का प्रयोग किया जाता था। मड़नी के समय बचे हुए काण्डों को सम्यक् रूप से गाहने हेतु, उन्हें ऊपर लाने के लिए वे एक प्रकार का औजार काम में लाते थे जिसमें झुकी हुई अंगुलाकार लकड़ियों की संख्या के आधार पर उन्हें द्रयांगुल या पंचागुलदार कहा जाता था।

कृषकों के द्वारा फसल माड़ने के बाद उसका 'निष्पाव' करते थे। धान्यराशि की मात्रानुसार 'निष्पाव' कार्य वायु अथवा सूप की सहायता से किया जाता था। मनु ने 'सूप' को गृहस्थ की एक आवश्यक वस्तु माना है तथा उसकी पवित्रता पर विशेष बल दिया है। मनु ने सूप चुराने वाले को पाप का भागीदार ठहराया है।[1] अनाज साफ करने के लिए सूप का उल्लेख जैन साहित्य में भी निकला है जहाँ इसे 'सुप्तकचर' की संज्ञा दी गयी है।[2]

माड़ने के अतिरिक्त कुछ धान्य, जैसे 'शलि' आदि का अवहनन भी होता था, जिसके लिए कृषक ओखली तथा मूसल का प्रयोग करते थे। शलि को मूसल के सहारे उलूखल में कूट कर तुण्डुल तैयार किया जाता था।[3] यहां पर भी फटकने के लिए सूप की आवश्यकता होती थी। फटकने

---

1. मनुस्मृति-12/66 मनु के अनुसार सूप चुराने वाला अगले जन्म में बिल्ली होता है।
2. उपासक दशा 2, पृष्ठ-23 : सूत्र कृतांग (4/2/7-12)
3. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल : 'पतंजलि कालीन भारत' पृष्ठ-263

की यह क्रिया सूप-निष्पाव कहलाती थी।[1] इस प्रकार हम कह सकते है कि मूसल, उलूखल, सूप एक प्रकार से घरेलू उपकरण थे। जैसा कि भाष्य में दिखायी पड़ता है कि कोठों में भरे हुऐ व्रीहि, शलि आदि धानों को खाने के पूर्व अवहनन कर लेना चाहिए। इस प्रकार इन उपकरणों की महत्ता अपने आप सिद्ध हो जाती है। चरक ने उसी भवन को अच्छा वतलाया है जो वस्तु-विद्या कुशल द्वारा निर्मापित तथा उद्पान , उनमूख, मूसल, वर्च : स्थान आदि गृह उपकरणों से सम्पन्न हो। इसके अतिरिक्त मनु ने ओखली, मूसल तथा सूप चूला शिल, बट्टा, 'झाड़ू, पानी का घड़ा आदि का उल्लेख किया जा सकता है। मनुस्मृति में 'चलनी' का उल्लेख मिलता है जिसका उपयोग आटा चालने के लिए किया जाता रहा होगा। जैन ग्रन्थों में 'गोकिलन्ज' नामक कूड़ का उल्लेख मिलता है जोकि आधुनिक नाद के समान रहा होगा।

'कृषि' कार्य के लिए प्रयोग किये जाने वाले उपकरणों में बैलगाड़ी का महत्वपूर्ण स्थान था। जिसका उपयोग कटी फसलों को खल्य भूमि में संग्रहित या वहां पर उन्हें माड़ने के बाद धान्यों को घरों तथा कोठरों तक ले जाने के लिए करते थे। महाभाष्य में ऐसे कार्यो के अनेकों उल्लेख प्राप्त होते हैं। पंतजलि ने हरी फसलों को हल तथा बैलगाड़ी के बैलों द्वारा नुकसान पहुँचाने की आशंका व्यक्त की है। उन्होंने लिखा है कि

---

1 चरक संहिता, सूत्र स्थान-15/5 पृष्ठः शर्मा, आचार्य प्रियव्रत : चरक चिन्तन पृष्ठ- 19

बैल जौ का खेत खूब खाते थे[1] और उन्हें यह फसल ढ़ोनी भी पड़ती थी[2]। 'इक्षु' ढ़ोने की गाड़ी के चर्चा के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि वे लोग व्यापक रूप से बैलगाड़ियों का प्रयोग करते थे। नानाघाट गुहा अभिलेख (प्रथम शताब्दी ई0पू0) से भी इसकी पुष्टि होती है।[3] जैन ग्रन्थ 'उपासक दशा' में खेतों से धान्य ढोने के लिए बैलगाड़ियों का प्रयोग करने का पता चलता है।[4] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कृषि के लिए बैलगाड़ियों तथा बैलों का प्रयोग होता था।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि कृषि व्यवस्था के काम में लाए जाने वाले उपकरणों का ज्ञान लोगों को हो चुका था। अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर लोगों ने इसका प्रयोग भी सीख लिया था। जिसका प्रभाव उनके उन्नतिशील कृषि पर अवश्य पड़ा होगा इसी लिए पेरिप्लस ने लिखा है कि भारतीय खाद्यान्नों का विदेशों में निर्यात होता था। पेरिप्लस के कथन के अनुसार उत्पादन द्विगुणित हो चला था ।

1. महाभाष्य 1/1/47
2. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, 'पंतजलि कालीन भारत' पृष्ठ-264
3 सरकार, डी0सी0, सेलेक्ट इन्सक्रिपशन्स भाग-1, पृष्ठ 189-90 'धान्यगिरि-तंस-प्रयुक्तं (विशाल धान्य स्तूपस्य वहन्-मोचन-विनियुक्तं) व्यूलर ने इसका अनुवाद करते हुए लिखा है
4 उपासक दशा 1/121

(2) 'कृषि की विधियाँ'

विभिन्न साहित्यिक साक्ष्यों (यथा पालीत्रिपिटिक, साहित्य, अर्थशास्त्र, धर्मसूत्रों तथा महाकाव्यों) में प्राप्त उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि भारतीयों की कृषि व्यवस्था सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित अवस्था में पहुँच चुकी थी तथा उन्हें समस्त क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त हो चुका था। रामायण काल में वार्त्ता विद्या के शास्त्रीय आधार पर पहुँचने के बाद कृषि की प्रगति की एक सुनिश्चित दिशा भी निर्धारित हो गयी थी।[1] रामायण में ततकालीन कृषकों को धन-धान्य पूर्ण चित्रित किया गया है[2] और महाभारत में दुर्योधन भी गर्वपूर्वक कहता है कि उसके राज्य में कृषि को नुकसान पहुँचाने वाला कोई नहीं था। प्रारम्भ में कृषि शब्द का तात्पर्य भूमि-विलेखन या हल चलाना ही था[3] लेकिन पतंजलि ने इसका व्यापक अर्थ बताते हुए कहा कहा कि कृषि का अर्थ केवल हल चलाना ही नहीं, अपितु बैल एवं कर्मकर आदि के लिए भोजन का प्रबन्ध या प्रति विधान करना भी है। पंतजलि के समय कृषि शब्द में, जोतना, खोदना, बोना, गिराना, कटाई करना, गाहना सैलाना आदि सभी कार्य आ जाते हैं इनका क्रमानुसार विस्तृत विवरण दिया जा रहा है।[4]

---

1 ला.एन.एन., 'स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर', पृ0 81

2 रामायण 6/131/99-100

3 महाभारत 5/60/17

4 अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, पतंजलि कालीन भारत, पृ0 251 (कृषि शब्द कृष.धातु से बना है जिसका अर्थ है कूड़ बनाना या जोतना होता था। मराठी में इसके लिए बहुत उपर्युक्त शब्द प्रयुक्त होता है, नागरना) ।

(1) जुताई करना या कर्षण :-सबसे पहले कृषि कार्य में भूमि का विलखन होता है। कृषि व्यवस्था में जुताई का कार्य आज की भांति बैलों से होता था अश्वघोष ने बुद्धचरित्र में कृषक, हल में सम्बद्ध बैलों और जुते व जुताई करते हुए खेतों का चित्र तथा उसका करुणामय वर्णन प्रस्तुत किया है। वन दर्शन के लोभ और पृथ्वी के गुण-विशेष से आकृष्ट होकर, सूदर बन में गये हुए कुमार, गौतम ने, जल तरंग की भांति विकृत, हल मार्ग (जुती हुई नाली) वाली पृथ्वी, जिसके जोतने से तृण-कुशायें छिन्न-भिन्न हो गयीं थी और छोटे-2 कीड़े-मकोड़े मर कर बिछ गये थे, को जुतते तथा पवन, सूर्य-किरण एवं धूल से विवर्ण (रुक्ष) कृषकों तथा हल खीचने के परिश्रम से व्याकुल बैलों को देखकर अत्यन्त करूणा की ओर, इसीलिए सम्भवतः बुद्धत्व प्राप्त होने पर उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के लिए भूमिज का छेदन, भूमि का जोतना, खोदना आदि निषिध्द कर दिया।[1] मनु ने भी संन्यासियों को हल चलाने तथा हल द्वारा उत्पन्न हुई वस्तुओं को भोजनार्थ ग्रहण करने का निषेध किया है।[2]

हाल ने कृषक का वर्णन करते हुए लिखा है-'जो वर्षा कालीन कीचड़ में हल चलाने से थक कर रात्रि को निस्तब्ध सो गया है, उसकी पत्नी संयोग में वियोगावस्था का अनुभव कर उसे कोस रही है।' आज की ही भाँति उन दिनों में कृषकों को यह विश्वास था कि भूमि को जितना जोता जायेगा उतनी ही अच्छी फसल उसमें पैदा होगी क्योंकि जोतने से

---

1. अश्वघोष - 'बुद्धचरित' 26/31
2. मनु - 6/16

क्षेत्रों के स्वयं रुद्र, तृण कुशादि नष्ट हो जाते थे।[1] और मिट्टी में रहने वाले छोटे-2 कीड़े मकोड़े ऊपर आकर मर जाते हैं। जिससे इनके द्वारा बीजों के नष्ट होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है कुछ इतिहासकारों का विचार है कि हल में जुताई के लिए हाथियों का प्रयोग भी किया जाता था।[2] खेतों को ठीक समय पर जोतना भी आवश्यक था[3] मनु ने समय पर खेत को न जोतने वाले के ऊपर लगान को दस गुना कर देने की राजा को सलाह दी है। जुताई का प्रारम्भ शुभ-मुहूर्त[4] व सीतायज्ञ[5] के साथ होता था। कोई-2 कृषक हल चलाने में काफी निपुण होते थे समाज में उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता था। उत्तराध्ययन टीका[6] में ऐसे ही एक पराशर गृहपति का उल्लेख है। कृषि में कुशल होने के कारण उसे कृषि पराशर कहा जाता था। इसी ग्रंथ में आगे एक ऐसे कृषक का वर्णन आया है, जो एक हाथ से हल चलता हुआ, दूसरे से अपनी बाडी में से कपास तोड़ता जाता था।[7] निश्चय ही उसका यह कार्य, विषय पर पूर्ण अधिकार का परिचय देता है। वैसे तो प्रत्येक कृषक से इसकी अपेक्षा की जाती थी।

---

1. अश्वघोष - सौन्दरानन्द काव्य 9/39
2 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वारटरली', भाग 10, 1434 में अनन्त कुमार बोस का एग्रीकल्चर शीर्षक लेख, पृ0-299
3. गौतमी पुत्र शातकर्णि का नासिक गुदा अभिलेख (130 ई0 सन् सरकार, डी.सी. सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स भाग 1 पृ0-193-94-95) ("तत च क्षेत्रम् न कृष्यते, स च ग्रामः न उष्यते"।)
4. मजूमदार, आर.सी. क्लैसिकल एकाउन्ट्स ऑफ इण्डिया, पृ0-348
5 गाथा-सप्तशती, 2/65
6. उत्तराध्ययन टीका, 2, पृ0 45
7 वही0 4, पन्0 78

कृषकों की समृद्धि का मापदण्ड हलों की संख्या थी।[1] कभी-2 कृषि कार्य मजदूरों द्वारा भृत्ति पर भी करवाया जाता था। फिर भी उनके लिए कहा जाता था कि यह पाँच हलों की खेती करता है। अर्थात वह स्वयं हल न चलाकर, हल चलाने का साधन प्रस्तुत करता था। उस प्रकार जोतने वाला ही नही अपितु जुलाई करवाने वाले का उल्लेख प्राप्त प्राप्त होता है।[2] महाभारत में उल्लेख प्राप्त होता है कि नौका से खेती नही करवाना चाहिए क्योंकि वे खेती का कार्य अच्छी तरह से नहीं करते, इसलिए स्वयं कृषक को खेती का कार्य करना चाहिए। जरा सी असावधानी से बड़ी छति होती थी[3] अतः सुगृहस्थ को दूसरों के भरोसे खेती का काम नहीं छोड़ना चाहिए।[4]

उत्तम खेती के लिए हलों में मजबूत, तेज और निरोग्य बैलो से जोते जाते थे। जो कि गहरी जुताई करने पर भी नहीं थकते थे। जुताई करने के बाद खेतों की मिट्टी बराबर करने तथा आद्रता की रक्षा करने के लिए कृषक काष्ठादि का प्रयोग करते थे।

(2) बुआई या वापः- खेतों में बीज डालने की क्रिया बुआई कहलाती थी। जो कि शुभ मुहूर्त में की जाती थी। बोने के लिए तैयार जुता खेत पवित्र माना जाता था। सम्भवतः मनु ने इसी लिए इनमें

---

1. प्रायः एक हल से 100 निवर्तन (40,000 वर्ग हाथ उपासक दशा ? पृ0 67) जमीन जोती जाती थी।
2 अगिनहोत्री, प्रभुदयाल, पंतजली कालीन भारत पृ0 251
3 महाभारत, उ0 33/86 (गीताप्रेस) "षडिसानि विनश्यत्ति मुर्हुव्रमन वेक्षणातृ। गावः सेवा कृषि मार्या विद्या वृषज र्सगति ।।"
4. वही ऊ0 38/12 'स्वयमेव कृषिं व्रजते ।'

मल–मूत्रादि के त्याग का निषेध किया है। वैश्यों को खेत का गुण, दोष बीज बोने की विद्या (कला) प्रस्थ व वरुण आदि योगों का ज्ञाता होना आवश्यक था। क्योंकि इन योगों (क्रियाओं) से अनभिग्ग कृषकों द्वारा बोऐ गये बीज, आपेक्षित जल मात्रा, ऋतु व भूमि आदि के समुचित चयन के अभाव में अंकुरित नहीं हो सकते थे।[1] इस प्रकार मनु के इस विधान से स्पष्ट है कि बुआई भी इस समय एक विद्या का रूप ले चुकी थी जिसका श्रेय अनुभव व व्यहार का था न कि विज्ञान व किसी अविष्कार का। साथ ही इस विद्या का अर्जन सुगृहस्यों के लिए अनिवार्य भी समझा जाता था।

उत्तम फसलों का उत्पादन बहुत कुछ बीज की प्रकृति के अनुसार क्षेत्रों की क्षमता बीज बोने का उचित समय, बोते समय जमीन की स्थिति, व बीज की अंकुरन शक्ति आदि की जानकारी पर निर्भर करता था। खेतो व बीज दोनों में, मनु ने बीज को अधिक महत्व दिया है। अश्वघोष ने बीज बोते समय सतर्कता पर अधिक बल दिया है।[2] कामसूत्र के लेखक वात्सायन ने, सुगृहणियों द्वारा सब्जियों व औषधियों के बीजों की कुशलता पूर्वक संग्रहित करने व उन्हें उचित समय पर बोने का उल्लेख किया है।[3] ग्रीक लेखक स्ट्रैवो ने उल्लेख किया है कि कृषक प्रायः नम भूमि ने बीज बोते थे जिससे कि नमी पाकर बीज जल्दी अंकुरित हो सकें।

पंतजलि ने कुछ ऐसे धान्यों का उल्लेख किया है जोकि बिना बोए ही उग आते थे जिन्हें उन्होंने अपाने भाष्य में 'कृष्टपाक्य' शब्द से

---

1. अश्वघोष - बुद्धचरित 12/72
2. वही0 20/26
3. कामसूत्र - 1/4 27-29 पृ0 94

अभिहित किया है। उन फसलों में दाले, तन्तु वृक्ष, फल, शिल्य और लाक्षा आदि प्रमुख थी। अकृषिक-भूमि पर बिना बोए अपने उगने व पकने वाले अन्न को 'अकृष्टपच्य' कहा जाता था। जैसे नीवार, ककुनी, सांवा आदि।[1]

मौर्योत्तर काल में किसान बुआई के लिए कई तरीकों का प्रयोग करते थे जैसा कि पार्णिन के अष्टाध्यायी में पहले ही बुआई की विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रगतिशील एवं विकसित कृषि विधियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्वकाल में प्रचलित ये विधियां और भी संशोधित व परिवर्धित तरीके से आगे बढ़ी होगी। महाभाष्य में बीजाकरोति प्रयोग का आशय सम्भवत: बेर की बुआई से है। जैसा कि एक व्यक्ति हल की मूठ पकड़े तथा दूसरा पीछे-2 खेत में बीज डालता जाय के चित्र से स्पष्ट होता है[2] बोने के अतिरिक्त कुछ फसले[3] रोपी भी जाती थी। जैसे कलम[4], शलि[5] आदि। शलि एक बड़ी जाति का धान था, जिसकी पौध श्रावण में लगायी जाती थी और अगहन (शरद) में काट ली जाती थी। इसी लिए इसे शरद भी कहा जाता था।[6] बालमीकि ने शरद-ऋतु में पके हुए शलि का बड़ा ही मनोरम चित्रण किया है।[7] ग्रीक

---

1 महाभाष्य - 3/1/114

2. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, 'पंतजलि कालीन भारत' पृ0 254

3. केवल धान की ही कुछ किस्मों के रोपने का वर्णन प्राप्त होता है।

4. चरक संहिता, भाग 1, अन्नपान विध्यध्याय: 27 (8-10)

5. काशिका 4/3/43

6 काशिका 4/3/43

7. रामायण- 3/16-17 ।

लेखक स्ट्रैवो का यह कथन भी धान का पौधा पानी से भरी हुई क्यारियों में खड़ा किया जाता था।[1] सम्भवतः धान रोपने के आरे संकेत करता है।

मिलवा फसले बोने का उल्लेख भी भाष्य में मिलता है जैसे उड़द के साथ तिल आदि। किसान निश्चित् परिमाप के आधार पर खेतों में बीज डालते थे। (निश्चित परिमाणों में-पात्र[2], कुम्भ, उष्ट्रिका आदि)। इन सबके एक निश्चित् परिमाण थे[3]।

बुआई के बाद बीजों में अंकुर आते है और ततपश्चात् उनमें पत्तों व शाखाओं का उद्‌गम होता था।[4] इसके बाद पौधे बालियां लगती थी और पक जाने के बाद लवन के लिए तैयार फसल का रूप धारण कर लेते हैं। बाल्मीकि ने लिखा है कि कर्मफल की भाँति इन धान्यों के पकने में भी समय लगता था। अतः इसको पकने की स्थिति से पहले उसकी निराई, गुड़ाई, सिंचाई करना पड़ता था। खेतों की सुरक्षा के लिए बाड़ भी लगाना पड़ता था

प्रायः खेतों में घास, मोये, आदि उग आते थे[5] जो फसल तथा खाद्यान्नों के सम्यक विकास तथा संवर्धन में बाधा पहुँचाते थे। किसान कुदाल आदि से उन्हें साफ कर डालते थे ताकि मिट्टी की पूर्ण उर्वरक शक्ति

---

1 स्ट्रैवो 15/1/18
2 अग्रवाल, वासुदेव शरण, 'पाणिनि कालीन भारत वर्ष पृ0 200
3. काशिका 5/1/46
4 अश्वघोष - 'बुद्ध चरित' 14/69
5. अश्वघोष, 'सौन्दरानन्द'

धान्यों को ही मिल सके।[1] घास-फूस के साफ करने की क्रिया निराई अथवा गुड़ाई कहलाती थी। निराई के बाद कृषक सिंचाई करता था।[2] सिंचाई के लिए नहर, तालाब, जलाशय , झील आदि प्रमुख स्रोत थे।

खेतों की रखवाली भी कृषि का महत्वपूर्ण अंग था। किसानों के खेत प्रायः चारागाहों व जंगलों से सटे होते थे।[3] पालतू तथा जंगली जानवरों से फसलों के चरने का भय हमेशा किसानों को बना रहता था इनसे बचने के लिए किसान चतुर्दिक बाड़ बनाया करते थे। राज्य की ओर से ऐसे व्यक्तियों को दण्ड दिया जाता था जो अपने पशु खुले विचरण करने के लिए छोड़ देते थे। वन्यपशुओं से फसल की रक्षा के लिए चारों तरफ खाई खुदवा दी जाती थी।

मड़नी या मर्दनः- कृषक अपनी फसल पक जाने के बाद काट करके उन्हें खल्य भूमि में लाता था। खल्य भूमि में लाने के उपरान्त काण्ड को भूसा बनाने व अनाजों को उससे अलग करने हेतु फसलों की मड़नी या मर्दन करता था। इसे गाहना भी कहा जाता था।[4] गाहने की यह क्रिया अधिकतर बैलों के सहारे होती थी ग्रीक लेखक स्ट्रैवो के वर्णन से भी धान, जौ आदि के माड़ने का समर्थन होता है।[5]

---

1. महाभारत शांति0 97/6
2 अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, पंतजलि कालीन भारत पृ0 2.55
3 भगवती सूत्र-18/10/647
4 महाभारत भीष्म0 99/3 "धान्यानामिव लूनानां प्रकरं गोगणा इव"
5. स्ट्रैवो-15/1।18 मजूमदार, आर0सी0; 'द क्लैसिकल एकाउन्ट्स ऑफ इण्डिया' पृ0 251-52 उत्तर भारत में आजकल इस क्रिया को दवाई कहा जाता है।

मड़ाई करने के बाद भूसा तथा अनाज को पृथक किया जाता था। इस क्रिया को 'निष्पाव' या सौलाना कहा जाता था।[1] निष्पाण की यह क्रिया कृषक धान्य की मात्रा अनुसार वायु अथवा सूप के सहारे करता था।[2] महाभाष्य में भूसे की ऊँचाई की तुलना विध्य से की गयी है।[3] इसमें विध्य की कम ऊचाई और वर्धितक (ताण्डुल-राशि) के महत्व दोनों की ओर लक्ष्य है। भुस-राशि की पंतजलि ने 'सहृतबुस' व सहियमाण बुस कहा है।[4] कभी-2 धान्यों को उठा ले जाने के बाद काफी दिनों तक ये खलिहान में पड़े रहते थें[5] भूसे का उपयोग पशुओं को खिलाने के लिए किया जाता था। परन्तु कभी-2 आग भी सुलगाई जाती थीं[6] गेहूं, जौ आदि के काडों को क्षुण्ण अंश भुस (बुस) कहलाते थे, किन्तु धानों के क्षुण्ण अंश पुआल अथवा पलाल कहे जाते थे।

'शलि' को कूट कर तण्डुल तैयार किया जाता था। कूटने की यह क्रिया 'अवहनन' कहलाती थीं[7] कूटकर इकट्ठा किया हुआ चावल तण्डुल-निचाप कहलाता था[8] तण्डुल राशि को वर्धितक कहते थें ।

पक्षियों से रक्षा के लिए खेतों में घास-फूस का आदमी बना कर खड़ा कर दिया जाता था। जिनके डर से पक्षी, सियार, मृग आदि खेतों के

1. महाभाष्य 1/3/14
2 वही 3/3/20
3. महाभाष्य 1/4/24 'विन्ध्यां वार्धित कमिति।
4. महाभाष्य 2/1/15
5. महाभाष्य 4/3/48
6. महाभाष्य 4/1/92 तुषपलालान्युत्तरठवति।
7. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, पंतजलि कालीन भारत पृ0 263
8. महाभाष्य; 3/3/20 'एकस्तण्डुल निश्चापः।'

निकट ही नही आते थे। यही नहीं कृषक दैवी विपत्तियों से भी रक्षा का उपाय करता था। पंतजलि ने तातकालिक कृषकों के अनुभव जन्य प्रपाप्त आन्तरिक्ष ज्ञान का परिचय मिलता है।

3. लवन :-खेतों में जब फसल पक जाती थी तो हंसियाँ आदि से उन्हें काटा जाता था। इसे ही लवन, लाव अथवा लवनी कहते थे। लवन का कार्य बड़े-धूम-धाम तथा उत्साह से सम्पन्न होता था अलग-अलग फसलों की लवन अर्थात कटाई अलग-अलग तरीके से की जाती थीं कुछ फसलों जैसे गेहूं आदि को जड़ से काटा जाता था।[1] कुछ फसलों की केवल वालियों ही पहले काट ली जाती थी और काण्ड बाद में काटा जाता था। पतंजलि ने कण्डलाव का पृथक उल्लेख किया है। कुछ धान्यों जैसे मूंग, माष, उड़द आदि के पौधों को जड़ से उखाड़ दिया जाता था। इसे उन्मूलन कहा था।

सारी फसलों को काट लेने के पश्चात् कृषक उन्हें छोटे-2 गठ्ठरों में बाँध कर खल्य भूमि में एकत्रित करते थे। वहां पर अनाज और भूसों को पृथक किया जाता था। इस प्रकिया को मड़नी कहा जाता था। फसलों के संग्रहार्थ खल्य, या खलिहान का उल्लेख मनु तथा भाष्यकार के वर्णनों में आया है। जोकि प्राय: परती भूमि में हुआ करता था। गाँव के अधिकतर कृषक अपनी फसल एक ही खलिहान में रखते थे जोकि प्राय: निश्चित होता था।[2] भष्य में कहा गया है कि एक चावक भूख मिटाने में असमर्थ ही हे किन्तु उनका समुदाय वर्धितक समर्थ होता है।[3]

---

1. महाभाष्य 2/3/70 : पुरी बी0एन0 इण्डिया अडा द् कुशानाजुप्0 113
2. अग्निहोत्री, प्रभुदयालपंजलि कालीन भारत पृ0 259-60
3 महाभाष्य 1/2/45

महाभाष्य में उल्लेख प्राप्त होता है कि शलि कोठों में भरे हो, तो भी उनके खाने के पहले अवहनन की आवश्यकता होती है।[1] आपत्ति कालीन उपयोग के लिए कोठिया ओर खत्तियां बनाते थे।[2] जैन ग्रन्थ व्यवहार भाष्य में उल्लेख प्राप्त होता कि एक समय कौशल देश में दुभिक्ष पड़ने पर किसी श्रावक ने बहुत सा अनाज अपने कोठे में इक्ट्ठा कर लिया था। उस समय वहाँ कुछ जैन साधु ठहरे हुए थे। श्रावक ने उनके लिए आहार की व्यवस्था कर दी और उन्हें अन्यत्र विहार नहीं करने दिया। लेकिन कुछ समय बाद जब अनाज का दाम महंगा हो गया तो लालच में आकर अनाज को ऊंचे दाम पर बेच दिया। ऐसी स्थिति में जैन साधुओं को भोजन के अभाव में आत्मघात करने के लिए बाध्य होना पड़ा और उनके मृत शरीर को गीध भक्षण कर गये।[3] रामायण के कुम्भी और करमी नामक कोठारों का उल्लेख आया है।

बरसात में सुरक्षा की दृष्टि से अनाज को मिट्‌टी अथवा बास के बने हुए कोठों, बास के खम्भों के मंच पर बने हुए कोठों पर रखा जाता था। उसके द्वार पर लगाए जाने वाले ढ़क्कन को पहले गोबर से चारों तरफ लीप दिया जाता था फिर दुबारा उसे मिट्‌टी से पोत दिया जाता था।[4] धर के बाहर जंगलों में भी कोठारों का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] कोठारों को कभी-2 राज्य द्वारा भी बनवाया जाता था। जिनके द्वारा राजा गरीब

---

1 वही 3/3/133 'अवश्यं खल्वपि कोष्ठ गतैश्वयि शालिष्व बहननादीनि प्रतीक्ष्याणि।'

2 अग्निहोत्री, प्रभुदयाल - पंतजलि कालीन भारत, पृ0 263

3 व्यवहार भाष्य 10/557-60

4. जैन, चगदीश चन्द्र, जैन आगम साहितय में भारतीय समाज पृ0 122-23

5. वृहकल्प भाष्य 2/3298

कृषकों को अन्न तथा बीज प्रदान करता था।[1] मनु ने कोठारों को नष्ट करने वाले व्यक्ति के लिए मृत्यु की सलाह राजा को दी है[2] अभिलेणीय साक्ष्यों से भी कोठारों के निर्माण की पुष्टि होती है।[3] जिसका आपतकाल में प्रयोग किया जाता था।[4]

इस प्रकार उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते है कि द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य कृषक कृषि-कार्य सम्बन्धी समस्त कार्यो के अच्छे ज्ञाता थे। कृषि कार्य की प्रारम्भिक अवस्था भूमि की जुताई (विलेखन) से लेकर उसके समापन तथा खाद्यान्नों को कोष्ठागारों में सुरक्षित रखने तथा आने वाली विपत्तियों का पूर्वानुमान करके अनाज को बचाकर सुरक्षित रखने की समुचित व्यवस्था करना, तत्कालीन कृषकों की विषयगत ज्ञान का परिचय देती है। इस प्रकार वैदिक काल से लेकर स्मृतियों के समय तक कृषि का महत्व निरन्तर बढ़ता गया और उसी अनुरूप उसका विकास होता गया। लगभग सभी व्यवस्था कारों का विचार था कि देश का सर्वागीण विकास कृषि उद्योग की समृध्दि पर निर्भर करता है। इसी लिए उन्होंने अपनी नियम व्यवस्था में उस साधन को सुव्यावस्थित करने की चेष्ठा की। उस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी ईसवीं के मध्य कृषि व्यवस्था प्रायः समान ही थी।

---

1 महाभारत, 5/68

2. मनु 9/280

3 महास्थान प्रस्तर अभिलेख सरकार डी०सी० सेलक्ट इन्सक्रिप्शन्स पृ० 83 'धान्यै (च) एषः कोष्ठगारः कोषः (च परिपूरणीयी)

4. सहगौरा अभिलेख (वही पृ० 82)

(3) भूमि का विभाजन

विवेच्य काल में उत्तर भारत में भूमि का विभाजन पूर्व काल की भांति उर्वर तथा अनुर्वर के आधार पर किया गया है। पुनः उर्वर भूमि को फसलों के उपज के अनुसार विभिन्न किस्मों में विभाजित किया गया है।[1] जैसे यव, तिल्य, व्रैहेय, आणवीन[2] आदि। अनुर्वर भूमि, उसर, वंजर मरू में विभवक्त थी।

विवेच्य काल में क्षेत्रज्ञों ने भूमि का विभाजन औषधीय एवं आर्थिक दोनों दृष्टिकोणों से किया है। चरक व सुश्रुत का आधार औषधीय ही रहा है, जिन्होंने विभिनन औषधियों की उत्पादक मिट्‌टी की प्रकृति पर विशेष ध्यान दिया है। वहीं दूसरे कौटिल्य आदि राजनयिकों का भू–विभाजन सम्बन्धी लक्ष्य विभिन्न खाद्यानों के उत्पादन में सक्षम भूमि की ओर अधिक रहा है।

मिट्‌टी की प्रकृति तथा उपयोगिता के अनुसार चरक ने भूमि के विभाजन का उल्लेख किया है। उन्होंने भूमि का विभाजन निम्न तीन कोटियों में किया है।[3]

1. **जंगलः–** वन्य प्रदेश, जहाँ पर सम्भवतः स्वाभाविक रूप से औषधियाँ उपजती थी।

---

1 आर०गंगोपाध्याय : 'एग्रीकल्चर एण्ड एग्रीकल्चरिष्ट्स इन ऐंशियन्ट इण्डिया'।

2. महाभाष्य 5/2/1 से 5/2/4.

3 चरक संहिता, कल्प स्थान 1/8 त्रिविधिः खलुदेशः – जंगलः, आनूपः साधारणश्चेति।'

2. **अनूपः**– कृषि की दृष्टि से सम्भवतः सबसे उपजाऊ यही भी और ।

3. **साधारणः**– सम्भवतः चरक द्वारा उल्लिखित हस्तिश्यामा (बड़ा सावां), नीवार (तिन्नी का चावल), तांयपर्णी, गवेधूक, प्रशातिका, अभ्यः– श्यामा (जल में पैदा होने वाला सांवां विशेष), लोहिताणु, प्रियगु, मुकुन्द, झिन्टी आदि तृणधन्य जंगलों में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने थे, इसी लिए सुश्रुत ने इन्हें कुधान्य कहा है और शारीरिक औषधि के रूप में महत्वपूर्ण बतलाया है।[1] इसके अतिरिक्त नलद या जट माँषी, जो कि बारहों महीने रहने वाला जंगली तृण था, का उल्लेख भी चिकित्साशास्त्र के ग्रथों में अनेकों बार हुआ है। मनु ने भी औषधियों के जंगलों में स्वयमेव उत्पन्न होने की चर्चा किया है।[2]

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने तो उपजाऊपन के अनुसार भूमि का विभाजन किया है। इसके साथ-साथ उन्होंने भूमिका विभाजन करते समय मिट्टी जल की सुविधा तथा भूमि की जुताई के साथ-साथ भूमि के विस्तार, लक्षण, नाप, स्थिति एवं ग्राह्य क्षमता पर भी बल दिया है।[3] कौन सी भूमि अपनी स्थिति के अनुसार किस फसल विशेष के लिए अधिक उपयोगी होगी, इसका विस्तृत विवेचन पूर्वकालीन ग्रंथ अर्थशास्त्र में मिलता है।[4]

---

1. चरक संहिता, सूत्रस्थान 27/17-18 भाग-1 अन्नपाल विषयध्याय 27, पृ0 528
2. मनु0 11/154
3. आयंगर, के.बी.आर. : "आस्पेक्ट्स आफ ऐशियन्ट इण्डिया इकनामिक थाट, पृ-81"
4 अर्थशास्त्र - 2/24/22-23

हल्य-भूमि को क्षेत्र या केदार भी कहा जाता था, हल्य भूमि नाम दो प्रकार से निश्चित किया जाता था, प्रथम उनमें बोई जाने वाली फसल के आधार पर और दूसरे खेत में पड़ने वाले बीज के परिमाण के अनुसार।[1] पेरिप्लस ने काठियावाड तथा उसके आस-पास की भूमि को गेहूं, धान, गन्ना आदि के लिए अधिक उपयोगी भूमि के रूप में उल्लिखित किया है। इसीलिए वहाँ के लोगों के मुख्य खाद्य-पदार्थ भी यही अन्न थे।[2] जो सम्भवतः उपज के अनुसार प्रदेश विशेष की भूमि की कोटि की ओर इंगित करता है।

पंतजलि ने फसल के अनुसार खेतों का नामकरण किया है। जैसे-शालेय (धान का खेत), यव्य (जिसमें यव बोया जाय) ब्रैहेय (ब्रीहि वाला) मौद्‌गीन (जिसमें मूंग कोई गयी हो) तिल या तैलीन (तिलवाला) भांग्य या भांगीन (पटशन का खेत), यवकव (नई का खेत), षष्टिकय (साठी वाला धान), उम्य या औमीन (अलसी का खेत) आदि नाम बतलाया है।[3]

पतंजलि ने एक ऐसे उर्वर खेत का उल्लेख किया है जिसमें यव एवं राजमांस पैदा होते थे। क्योंकि यह हर खेत में नहीं उपज सकता है।[4] पंतजलि ने यव के उत्पादन के आधार पर भूमि को कोटियों में विभाजित किया है।[5] (1) अयव- (जहाँ यव न हो) (2) सुयव- (जहाँ पर खूब यव

---

1. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल। 'पंतजलिकालीन भारत', पृ0 253
2. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-3/30/216 वाहिलीका: पहलवाश्चीना: शुलीका यवना: शका:। मांसगौधूम माध्वीक शस्त्रवैंश्वानरोविता:।।
3 महाभाष्य 5/2/1 से 5/2/4
4. पंतजलि महाभाष्य - 5/1/20
5. पंतजलि - 5/4/50 तथा 6/2/108

पैदा हो)। तिल[1] के खेत का विभजन भी इन्ही दो कोटियों के आधार पर किया गया था। (1) कृष्ण तथा (2) श्वेत[2] तिल का खेत आदि उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार इक्षु-शाकी (इक्षु का खेत) का भी महाभाष्य में मिलता है।[3]

यही नही विवेच्य काल में बीज के माप के लिए निश्चित परिमाण के माप के पात्रों काप्रयोग किया जाता था। पात्र, कुम्भ, उष्ट्रिका आदि माप के परिमाण थे, जिनसे खेतों में बीज डाला जाता था। चरक ने पात्र को आढ़क का पर्याय कहा है जो कि ढ़ाई शेर का होता था।[4] महाभाष्य में भाषकुम्भवाप तथा उष्ट्रिका आवपन के उल्लेख मिलते है।[5]

आवश्यक चूर्णि[6] में उत्पादन की दृष्टि से हल्य भूमि का विभाजन दो प्रकार से किया गया है।

1. उद्गात :- काली भूमि

2. अनुउद्गात :- पथरीली भूमि।

काली भूमि में अत्यधिक वर्षा होने पर पानी वहीं का वही रह जाता था, बहता नही था।[7] पथरीली भूमि ढ़लुई तथा कृषि के लिए

---

1. वही0 5/1/20
2 वही0 2/2/57
3. वही0 5/2/29
4. चरक संहिता सूत्रस्थान 27/298 वासुदेव शरण अग्रवाल-'पाणिनकालीन भारत वर्ष पृ0-200
5. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल; 'पतंजलि कालीन भारत'
6 आवश्यकचूर्णि 2, पृ0 77
7 वृहत्कल्पभाष्य पीढिका: 338

अपेक्षाकृत कम उपयोगी थी जिसमें पानी नहीं रुकता था। मनु के अनुसार राजा भूमि की उर्वरा शक्ति आदि की दशा को देखकर तथा खेत जोतने आदि के परिश्रम आदि पर विचार करके ही अपना भाग निश्चित करना चाहिए।[1] चूँकि अनुपजाऊ हल्य भूमि में कृषकों को काफी परिश्रम करना पड़ता था, इसीलिए मनु ने उपजाऊ हल्य भूमि को सबसे उपयुक्त माना है।[2] लेकिन कृषिकर्म बिना परिश्रम के दुष्कर कहा गया है।[3]

विवेच्य काल में जनसंख्या वृद्धि तथा विदेशी शासकों के प्रभाव के कारण हल्य भूमि की माँग भी बढ़ने लगी थी। मिलिन्दपञ्हों[4] तथा मनु[5] ने जंगलों को साफ करके भूस्वामित्व प्राप्त करने का उल्लेख किया है, जो सम्भवतः अकृषित भूमि को कृषिगत करने की ओर संकेत है। जिसका एक कारण रोम आदि देशों में खाद्यानों का निर्यात भी था।[6] जंगलों को जलाकर खेती करने का उल्लेख वृहत्कल्प भाष्य में भी मिलता है।[5]

हल्य भूमि के अतुर्दिक अहल्य भूमि-उसर[6], गोचर[7] गाँव तथा जंगल हुआ करते थे। इनसे क्षेत्रों के पृथक करने के लिए किसान खेतों में मेड़

---

1. मनु0 7/130
2. मनु 7/212 (पशुओं की वृद्धि से मनु का तात्पर्य सम्भवतः उस भूमि से उत्पन्न घास फूस तथा फसलों के भूस से है, जो कि पशुओं के आहार हुआ करते थे।)
3. अश्वघोष, बुद्ध चरित :-2/8

4 मिलिन्दपञ्हों :-5/5/15

5 मनु0 9/44

6 काम्प्रीहेन्सिम हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग-2 पृ0 431-32

5 वृहत्कल्प भाष्य

6 भगवती सूत्र : 18/10/647

7. रामायण : 2/42

बाँध दिया करते थे।[1] कभी-2 ये मेड़ काफी ऊँचे भी हुआ करते थे जिनका उद्देश्य पशुओं से खेती की रक्षा के साथ-साथ किसानों के आपसी खेतों को एक-दूसरे से पृथक रखना भी था, जिससे बीज तथा जल प्रवाह एवं वायु के द्वारा उड़कर दूसरे के खेत में न जा सकें।[2] इन मेड़ों को मजबूत तथा कायम रखने के लिए उनपर सामान्य तृण जैसे शर, मूज, कांड आदि बो दिये जाते थे।[3]

विवेच्य कालीन साहित्यिक ग्रथों में उत्तर भारत में अहल्य-भूमि का भी उल्लेख यन्त्र-तंत्र मिलता है।[4] रेह या नमकीन मिट्टी वाली यह भूमि उसर या बंजर कहलाती थीं[5] पंतजलि ने गोचर, (चारागाह) बन (पशु-शालाएं) व गोष्ठ (बाड़े) अहल्य भूमि में बनवाने का विधान किया है[6] चूँकि उसर भूमि में बोया गया बीज जमता नहीं।[7] इसीलिए मनु ने उत्तम बीज को उसर भूमि में न बोने का सलाह दिया है। कौटिल्य ने राजकीय सम्पत्ति मानकर इस भूमि को व्यवस्थित करने तथा इसमें नई बस्तियों बसाने का राजा को सुझाव दिया है।[8]

परती या बंजर भूमि में ही प्रायः क्षेत्रों से सटे हुए चारागाह हुआ करते थे। जो कि ग्राम वासियों की सामूहिक सम्पत्ति तथा कुछ दशा में

---

1. महाभाष्य 8/4/8 पृ0 479
2. मनु0 : 9/54
3. महाभाष्य 8/4/8 पृ0 479
4 वही0 5/2/107
5. महाभाष्य 5/2/107
6 वही0 3/3/19 तथा 5/2/18
7. वही0 2/112
8. अर्थ शास्त्र 2/2/1

राजकीय सम्पत्ति माने जाते थे।[1] मनु ने यह विधान किया है कि गायादि पशुओं को चराने के लिए गांव के चारों ओर सौ धनुष (चार सौ हाथ)[2] भूमि राजा त्याग दें तथा हाथ से लाठी फेंकने से जहां गिरे उतनी दूर भूमि की तिगुनी में अन्नादि न बोए।[3] सम्भवतः भूमि के राजकीय सम्पत्ति के साथ-साथ चारागाहों के गांवों के चतुर्दिक एवं उन से सटे होने की ओर इंगित करता है। चारागाहों के खेतों की सीमाओं से सटे होने का भी वर्णन मनुस्मृति में मिलता है जैसा कि मनु ने लिया है यदि वहाँ छूटी हुई भूमि चारागाह के समीप बाढ़ से घिरे हुए अन्न को पशु नष्ट कर दें, तो राजा वहाँ के पशु रक्षक को दण्ड देवें।[4] अतः चारागाहों के समीपस्य क्षेत्रों को पशुओं से बचाने के लिए इतनी ऊंची बाड़ बनवानी चाहिए कि जिसको ऊँट न देख सकें एवं समस्त छिद्रों को इस प्रकार बन्द कर देना चाहिए कि जिससे सुअर तथा कुत्ता का मुँह उसमें न जाये और फसल को न खा सकें।[5]

चरवाहों या गोप की देख-रेख में पशु चारागाहों में चरते थे।[6] चरवाहे या गोप डण्डे के द्वारा गायों को धान्यादि खाने से रोकते थे।[7]

---

1. भवगती सूत्र 11/11/430
2. अर्थशास्त्र; 3/10/20 (अर्थशास्त्र में इसकी नाप चार सौ हाथ बतायी गई है।)
3 मनु 8/237 "धनुः शत परीहारौ ग्रामस्य रक्षात्ससयन्ततः" ।
4. वही 8/238
5 वही 8/239 "वृत्तिं तत्र प्रकुर्वीत या मुष्टों न विलोकयते।
छिद्र वाप्येत्सर्वश्वसूकर भुज्जानुगम।।"
6. पुरी, बी0एन0 इण्डिया अण्डर द कुशानाज प्र0 113-14
7 अश्वघोष बुद्ध चरित् 26/35 "यष्टया रून्धन्ति गा गोपा धान्यादिम्यों यथा"

अन्यथा फसलों की क्षति की अवस्या में क्षतिपूर्ति के रूप में दण्ड अथवा मुआवजा देना पड़ता था।[1]

बंजर व परती भूमि के अतिरिक्त अरण्य, जंगल अथवा वन, मरू, भी अनउपजाऊ भूमि के एक प्रकार थे। जिस देश में अल्प जल एवं घास हो तथा वायु धूप एवं अन्न अधिक हो उसे जंगल कहा जाता था। यहाँ पर सम्भवतः अन्न का तात्पर्य आरण्य या वानेय धान्यों से हैं। जिसे हम स्वयं जमने वाली कह सकते है। इनमें श्यामक, ककुनी तथा नीवार आदि के नामों का उल्लेख मिलता है।[2] जिनका उपयोग तपस्वी, साधु-पुरूष अपने बनवास के समय करते रहे होंगे। जैसा कि अश्वघोष ने नीवार एवं फलों से सन्तुष्ट स्वस्थ शान्त एवं निरमिलाष तपस्वियों का उल्लेख किया है।[3] बिना जुटी भूमि अर्थात् जंगल में अपने आप उगने व पकने के कारण पतंजलि ने इन्हें अकृष्टपच्य फसल कहा है।[4]

महाकाव्यों[5] तथा बौद्धग्रन्थों[6] एवं ग्रीक लेखकों स्ट्रैवों के वर्णनों से जंगल में अपने आप उत्पन्न होने वाले धान्यों, कन्दमूल फलों तथा औषाधियों[7] का उल्लेख मिलता है। जिनमें तपस्वियों एवं साधु पुरूषों के अतिरिक्त गृहस्यों का एक वर्ग भी अपनी जीविका चलता था।[8]

---

1 मनु 8/240
2 महाभारत वन० 82/56 श्यामाक भोजनं
3 अश्वघोष, 'सौन्दरानन्द काव्य', 1/10
4. महाभाष्य, 3/1/144 पृ० 189
5 रामायण 3/16/16 महाभारत 3/157/44
6 जातक 5/37 पृ० 405
7 स्ट्रैवों 15/1/21 (मजूमदार आर०सी०: द क्लैसिक्ल एकाउन्ट ऑफ इण्डिया पृ० 253)
8 याज्ञवल्क्य- 153-54 पृष्ठ-90

वन सम्भवतः सार्वजनिक उपयोग की वस्तु माने जाते थे। परन्तु राज्य द्वारा आरक्षित कुछ वन उसके अपवाद भी थे। बृहत्कल्प भाष्य से पता चलता है कि घर के बाहर जंगलों में धान्यों को सुरक्षित रखने के लिए फूस और पत्तियों के बुगे बलय बनाए जाते थे। उनके अन्दर जमीन को गोबर से लेप कर धान्यों की राशिया लगाई जाती थी।[1]

ग्रीक लेखकों ने भी भारतीय मरू, भूमि का वर्णन किया है जिसे सिकन्दर महान ने भारत से अपने प्रत्यावर्तन का एक मार्ग चुना था। जल शून्य व बालूकामय इस वीरान भूमि में उसके भारतीय मित्र राजाओं ने अपने कर्मचारियों को भेज कर ससैन्य सिकन्दर के लिए जल तथा विश्राम की व्यवस्था कराई थी।[2]

अतः उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर हम कह सकते है कि विवेच्य काल में उत्तर भारत में कृषकों द्वारा भूमि का चयन उर्वरता एवं उत्पादन को ध्यान में रखकर किया गया था।

---

1 वृहत्कल्प भाष्य 2/32-98

2 मजूमदार, आर० सी० 'द क्लैसिक्ल एकाउन्स ऑफ इण्डिया' पृ० 94

(4) बीज

कृषि कर्म के अन्तर्गत बीज का आशय किसी भी अन्न के उस हरे सफेद दाने से है जिसे विधिपूर्वक खेत में बो करके फल प्राप्त किया जाता हैं इस क्षेत्र में बीज विशिष्ट लाभ का पोषक भी होता है। अर्थात कृषक विशेष फल प्राप्ति की इच्छा से ही खेतों में बीज डालता है[1] और पूरे कृषि उद्योग की सफलता भी इसी प्रेरणा पर निर्भर करती है। इसीलिए बुद्धिमान कृषक कृषिजन्य खाद्यानों में, विशेष फल से अवगत बीज ही अपने क्षेत्रों में बोते हैं।[2] सभी प्रकार के फलों का मूल उनके बीजों में निहित होता है। प्राय: सभी व्यवस्था कारों, विधिवेत्ताओं, बुद्धिजीवियों एवं दार्शनिकों ने इस शाश्वत सत्य को स्वीकार किया है कि कर्मफल बीज की प्रकृति पर निर्भर करता है।

कृषक खेतों की अच्छी प्रकार तैयारी करके उसमें बीज बोता था। सम्यक विकास होने के बाद उसमें अंकुर दिखाई पड़ते थे। बीजों को अंकुरित होने के पहले उसकी सुरक्षा आवश्यक समझी जाती थी। इसीलिए बुआई के पहले कृषक खेतों की कई बार जोताई करता था जिससे कि कीड़े-मकोड़े उपर आकर के जाय ताकि वे बीज को कोई नुकसान न

---

1. अश्वघोष सौन्दरानन्द काव्य 11/27
2. "बुद्धचरित 20/26" "दृष्टपूर्वफलं बीजं धीमानृवपति नान्यथा"।

पहुँचा सके।[1] इसके अतिरिक्त अकाल या जल के अभाव में भी बीजों से अंकुर नहीं उगते।[2] इसलिए बीजों को अंकुरित होने के लिए अनुकूल परिस्थितियां आवश्यक है। क्योंकि अंकुर आनें के बाद ही उनमें पत्तों शाखाओं एवं फलों का आगमन होता है। बीज बोने के बाद मिट्टी के सम्पर्क से बीज अंकुरित होते हैं। बीज और मिट्टी की श्रेष्ठता को लेकर व्याख्याकारों में मतभेद है। मनु ने बीज और क्षेत्र दोनों में बीज को श्रेष्ठ बताया है। अपने कथन के सम्बन्ध में उन्होंने अनेकों तर्क प्रस्तुत किये हैं। मनु कहते हैं जैसा बीज खेत में बोया जाता है उसी प्रकार वह अपने गुणों सहित उत्पन्न होता है।[3] एक अन्न बोया और दूसरा उत्पन्न हुआ ऐसा नही हो सकता। हम जो बोते है वही उत्पन्न होता है।[4] इसके अतिरिक्त खेत में किसान कृषि के समय गेहूं, जो, साढ़ी, धान आदि जैसा बीज बोता है, वह अपने स्वभाव से भिन्न-भिन्न रूप का उपजता है। पृथ्वी तो एक ही रूप की है परन्तु बीज एक रूप का नही, अतएवं बीज ही श्रेष्ठ है।[5] मनु ने आगे किया है कि कोई वस्तु बोने तथा उपजने के गुण से रिक्त बीज की

---

1 सुखमय भट्टाचार्या; महाभारत कालीन 'समाज' पृ0 सं0-164 ।

2 अश्वघोष; 'बुद्धचरित' - 12/72

3 मनु-9/36 ''यादृशं उप्यते बीजं क्षेत्र कालोपयादिते। तादृग्रोहति तत्रस्मिन्बीजं स्वैर्ल्यन्वितं गुणे'' (यद्यपि मनु ने प्रत्यक्षत: सन्तानोत्पत्ति के सन्दर्भ में स्त्री को क्षेत्र (लक्ष्मी) और पिता को वीर्य) का रूप मानकर उक्त बात कही है तथापि परीक्षत: उन्होंने खेत और बीज का भी उदाहरण के रूप में स्वीकार किया है-दर्शनानन्द सरस्वती द्वारा मनुस्मृति की व्याख्या पृ0 (435-36)

4. मनु0 9/40

5. मनु0 9/38

कुछ परिपुष्ठता नही करती, अतएवं बीज ही मुख्य एवं श्रेष्ठ है।[1] लेकिन हम बीज को एक मात्र श्रेष्ठ नहीं मान सकते क्योंकि कितना ही अच्छा बीज क्यों न हो यदि उसे उसर भूमि में बोया जाय तो कोई लाभ नही होगा। और सारा प्रयास निष्फल हो जायगा[2] इसी लिए मनु का विचार है कि उत्तम 'सस्य' के लिए बीज व क्षेत्र दोनों का अच्छा होना अति आवश्यक है।[3] क्योंकि अनुर्वर खेत में यदि, उत्कृष्ट बीज और उर्वर खेत में अकृष्ट बीज डाल दिया जायगा तो उसका कोई महत्व नहीं रहेगा।[4] इसीलिए योग्य किसान दोनों (बीज और क्षेत्र) की तैयारी भली-भांति करने के बाद ही उसमें बीज डालता है।

कामसूत्र के लेखक वात्सायन ने सुगृहिणियों के महत्वपूर्ण कार्यो में शाक-शाब्जियों आदि के बीजों को संग्रहित व सुरक्षित रखने की भी चर्चा की है।[5] जिससे पता चलता है कि खाद्यानों के बीजों का संग्रह व उनकी अंकुरन क्षमता को कायम रखना, उन दिनों एक महत्वपूर्ण कार्य था।

ऐसा प्रतीत होता है कि कोष्ठागारों में सुरक्षित अनाज का प्रयोग बीजों के लिए होता रहा होगा। वैसे राज्य की ओर से ऐसी कोई व्यवस्था रही हो इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि

---

1. वही 9/37
2 वही0 2/112,3/142
3 वही0 10/69
4 वही 10/71 "अंक्षेत्रे बीज.मुत्सृष्टमन्तरेव विनश्यति।
अबीजकमपि क्षेत्रं केवल स्थण्डिलं भवेत।।"
5. वात्सायन, कामसूत्र; 1/7/36-48 पृ0 174 तथा 4/1/29, पृ 430

राज्य के तरफ से भी कृषकों के सुरक्षा व संक्रमण काल के लिए इन कोष्ठागारों में सुरक्षित अनाजों का प्रयोग होता रहा होगा। जिसकी पुष्ठि कृषकों द्वारा इन कोठारों के लिए की गयी सुरक्षा से स्पष्ट होता है।[1] मौर्योत्तर काल में वर्तमान समय की तरह बीजगोदामों, बीजभण्डारों जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। लेकिन कृषि उत्पादन की दशा को देखते हुए हम कह सकते हैं कि तत्कालीन कृषक ने ऐसी कोई व्यवस्था अवश्य की होगी, जिससे कि अनाजों की अंकुरण क्षमता कायम रह सके तथा बोने पर उनसे यथेष्ट उत्पादन हो सके।

महाभारत में उल्लेख प्राप्त होता है कि राज्य द्वारा गरीब कृषकों के लिए भोजन के अतिरिक्त बीजों की भी व्यवस्था की जाती थी।[2] इस प्रकार हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि राज्य की ओर से अवश्य ही ऐसा कोई प्रयास किया गया होगा। जिससे गरीब कृषकों या आपत्ति काल में खाद्यान्न तथा बीजों की व्यवस्था हो सके। महाकाव्यों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि राजकीय व्यवस्था के अन्तर्गत ही कृषक अपने खेतों में बीज डाल सकते थे।[1]

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मौर्योत्तर काल में सम्पूर्ण विकास के पीछे कृषि का महत्वपूर्ण योगदान था तथा पूरे

---

1. जैन ग्रंथों में इन कोठारों के अन्दर की गयी धान्यों की सुरक्षा की प्रपाप्त व्यवस्था का वृहद उल्लेख मिलता है। (वृहत्कल्प भाष्य, 2/3 : तथा भाष्य 2/3294-95)
2. महाभारत, सभा0 5/68 ''कच्चि द्विजं च मलं च कर्षकायावसीदति।।''
   सुखमय भट्टाचार्य ने लिखा है कि जो कृशक दरिद्र होते थे राजा उनके खाने के लिए अन्न के साथ-साथ कृषि के लिए बीज बगैरह की भी व्यवस्था उसे ही करनी होती थी। महाभारत कालीन समाज पृ0 (161-62)

कृषि–उद्योग का आधार खाद्यानों के बीज थे। क्योंकि अच्छे बीज से ही अच्छे फल तैयार होते थे। उत्तम कोटि के खाद्यानों के लिए उत्तम बीज का होना आवश्यक था।[2] उनके द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले प्रर्याप्त खाद्यानों के आधार पर कहा जा सकता कि बीजों के अंकुरण क्षमता को बनाए रखने के लिए उन्होंने हमेशा प्रयास किया होगा। जिसका श्रेय उनके अनुभव को दिया जा सकता है। जिसने तत्कालीन कृषकों को आत्म निर्भर बना दिया था। जिसके लिए राज्य द्वारा समय–समय पर सहायता भी मिलती रहती थी।

---

1. व्यास, नानूराम : 'रामायण कालीन समाज' पृ0 209–10
2. पुरी, बी.एन., 'इण्डिया अन्डर द कुषनाज' पृ0–113

(5) खाद

वैदिक काल से ही फसलों की सिचाई तथा खाद डालने के साक्ष्य मिलते है। ऋग्वेद में खाद को 'कारिष' कहा गया है[1] इस समय खाद अधिकतर गोवर की हुआ करती थी। महाभाष्य में 'कारीष' तथा आरण्य-गोमय का उलेख मिलता है[2] इसके अतिरिक्त आर्दगोमय, शुक्रगोमय, आदि का भी उल्लेख विभिन्न अर्थो में भाष्यकार ने किया है।[3] इस प्रकार भाष्य में अनेकों बार गोमय शब्द के प्रयोग के आधार पर डॉ0 अग्निहोत्री का मत है कि तत्कालीन लोग गोवर का उपयोग करते थे। प्राचीन काल से ही हमे पता चलता है कि लोग गोवर की खाद का प्रयोग करते थे। यदि प्राचीन काल से ही गोबर का खाद के रूप में प्रयोग होता था तो हम ऐसा अनुमान व्यक्त कर सकते हैं कि मौयोत्तर काल में भी इसका प्रयोग खाद के रूप में अवश्यक होता रहा होगा। क्योंकि अतिरिक्त उत्पादन बिना खाद के प्रयोग के संभव नही था। मौर्योत्तर काल की अर्थव्यवस्था काफी उत्तम अच्दी थी उस समय अतिरिक्त उत्पादन होता था। मौर्योत्तर काल में भारतीय खाद्यानों का विदेशों में निर्यात होता था।[4] ऐसा तभी संभव है जब आन्तरिक उपयोग से अधिक पैदा हो।

---

1. मैकडोनल एवं कीम- 'वैदिक इन्डेक्स', भाग 1, पृ0 182
2. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल : 'पंतजलि कालीन भारत', पृ0 255
3. वही0 पृ0 271
4. बोस, ए.एन., 'सोशल एण्ड सरल इकानामी आफ नार्दन इण्डिया' पृ0 126-27

करीष शब्द का उल्लेख गाथासप्तशती में भी आया है। जहाँ इसका आशय करसी अथवा सूखे हुए गोबर के उपलों से है, जो अधिकाशतः जलाने के काम में लाया जाता था। अतः कृषि के लिए गोवर की यह उपयोगिता कृषकों को पशुपालन की ओर अवश्य प्रेरित करती रही होगी। इसके अतिरिक्त मौर्योत्तर काल के लोग खाद के रूप में हड्डी, कच्चा मांस, मछली, गोबर आदि का प्रयोग करते थे।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि वर्तमान समय की भाँति खाद के रूप में नाइट्रोजन, फासफोरस ऐसिड, पोटाश, यूरिया आदि वैज्ञानिक खादों का प्रयोग तो नहीं करते थे, लेकिन अपने अनुभव के आधार पर उन लोगों ने मलमूत्र, गोबर आदि का सम्यक उपयोग करके इस कमी को पूरा कर लिया था और अपने दैनिक उपयोग के खाद्यानों के उत्पादन में पर्याप्त बृद्धि कर लिया था।

(6) सिंचाई

प्राचीन भारतीय साहित्यिक ग्रंथों, धर्मशास्त्रों एवं विधिसंहिताओं के अनुशीलन से पता चलता है कि जल कृषि का सबसे मुख्य आवश्यक तत्व है। वैदिक काल से ही सिंचाई के बारे में प्रमाण मिलते हैं। प्रसिद्ध वैदिक दाशराज्ञ युद्ध परूणी नदी के पानी से सिंचाई के लिए हुआ था। सिंचाई व्यवस्था मौर्यकाल तक आते-आते एक सुव्यवस्थित रूप धारण कर लेती है। जिसका प्रमाण अष्टाध्यायी एवं अर्थशास्त्र जैसे कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों में दिखायी पड़ता है लेकिन मौयोत्तर काल में सिंचाई व्यवस्था के बारे में मौर्ययुग की भाँति समेकित साहित्यिक सामग्री नहीं मिलती, फिर भी समकालीन साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतों से पता चलता है कि मौर्य काल की भाँति आगे मौर्योत्तर काल में भी सिचाई के लिए प्रयास जारी रहे।

द्वितीय शताब्दी ई0पू0 से द्वितीय शती ईसवी के मध्य फसलों की सिंचाई करने का मुख्य स्रोत-प्राकृतिक व कृत्रिम दोनों थे। प्राकृतिक सिंचाई के साधन के रूप मे वर्षा एवं नदियाँ थीं, इसीलिए इन क्षेत्रों को अदेवमात्रक कहा जाता था। जिनकी सिंचाई प्रकृति स्वयं करती थी। ऐसी भूमि पर राज्य का 'भाग' भी प्राय: कम होता था।[1] खेती के लिए वर्षा का होना आवश्यक बताया गया है क्योंकि कृषि की सफलता बहुत अंशों में वर्षा पर निर्भर करती थी। मनु यज्ञ के प्रसंग में सूर्य को वर्षा का प्रणेता मानते हुए, कृषि के लिए वर्षा के महत्व को दर्शाते हुए लिखते है कि अग्नि में जो आहुति

---

1. जायसवाल, प्रशान्त कुमार; 'शक कालीन भारत', पृष्ठ-103.

पड़ती है वह सूर्य के समीप जाती है और सूर्य द्वारा जल बरसता है, जल से अनाज होता है तथा अनाज से प्रजा उत्पन्न होती है।[1]

अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' में लिखा है कि-वर्षागमन मात्र से पृथ्वी, विशेषकर देवमात्रक प्रदेश की छटा ही कुछ निराली हो जाती है और इसी समय शस्य-श्यामला भारत भूमि-की तद्विषयक विशिष्टता स्पष्ट एवं चरितार्थ होती है, जबकि वर्षा के अभाव में सूख रही सस्यों के कारण वसुन्धरा श्री-विहीन सी लगती है।[2] इसी लिए सम्भवतः, अश्वघोष ने सूखती हुई व कृषि के ऊपर अमृत रूपी जल बरसाने वाले मेघ को जगत् के जीवन का आधार कहा है[3] शरद-कालीन पकी एवं कुछ झुकी हुई ब्रीहि की बालियों की उपमा हाल कवि ने बृद्ध व्यक्ति के भूरे केशों से की है।[4] वर्षा कालीन जल को मापने के भी तत्कालीन भारतीय कृषकों के पास कतिपय मापदण्ड थे जिसका उल्लेख पंतजलि ने किया है।[5] वर्षा प्रायः वर्ष में दो बार होती थी, एक तो उत्तरी पूर्वी मानसून से दिसम्बर से मार्च तक और दूसरी दक्षिणी पश्चिमी मानसून से जून से सितम्बर तक[6]। यूनानी लेखकों ने भी इसका समर्थन किया है।[7] परन्तु मिलिन्दपञ्हों में कुछ असामयिक एवं छिट-पुट वर्षा के अतिरिक्त, वर्ष में तीन बार नियमित वर्षा

---

1 मनु0 3/76 "अग्नोप्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्यान्जायते वृष्टिर्वृरन्न ततः प्रजाः"।।

2 अश्वघोष; बुद्धचरित् 25/5 "शारदे वर्षणमावे शुष्कसस्या वसुन्धरा। यथा नैतानि शोमन्ते वमो सा न मुनिं विना"।।

3. अश्वघोष-'बुध्दचरित' 24/11 तथा 'सौन्दरा नन्द काव्य' 2/30

4 गाथा शप्तशती, हाल; 1/9

5 महाभाष्य; 3/4/33 तथा काशिका 4/3/32

6 स्पेट; इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ0 41

7. स्ट्रैवो-15/1/17, 18,20 (आर0सी0 मजूमदार; द क्लौसिकक एकाउन्ट आफ इण्डिया पृ0 250-52)।

का उल्लेख हुआ है। जिसका डा0 आढ़या खण्डन करते हुए कहा है कि विगत दो हजार वर्षो से भारत के भौगोलिक तत्वों में, कोई ऐसा महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को नहीं मिलता जो कि वर्षा की नियमितता को प्रभावित कर सके।[1]

प्राकृतिक सिंचाई का दूसरा महत्वपूर्ण साधन नदियां थीं प्रयाप्त वर्षा के अभाव में या बरसात समाप्त हो जाने पर फसल को पानी की आवश्कता होती थी तो इन्हीं नदियों से कुल्या निकाल कर कृषक फसलों की सिंचाई करते थे।[2] शलि आदि ऐसे धान्य जो केवल वर्षा जल पर आश्रित थे नदियों के निकले किनारे पर ही बोये जाते थे। सम्भवत: भाष्यकारों ने इन्हीं के लिए नदियों से कुल्या निकालने की बात कही है।[3]

रोमन लेखक प्लिनी ने लगभग साठ महत्वपूर्ण भारतीय नदियों का उल्लेख किया है।[4] इन नदियों का उद्‌गम स्रोत प्राय: पर्वत हुआ करते थे।[5] मौयोत्तर काल में इन प्राकृतिक संसाधानों के अतिरिक्त कुछ कृत्रिम साधनों की व्यवस्था भी की थी। जिससे कि उन्हें मात्र प्रकृति के सहारे न रहना पड़े। कृत्रिम जल साधनों में कूप, नहर, तालाब, जलाशय, झील, बाँध आदि प्रमुख थे। मनु लिखते है कि खोदते-2 मनुष्य जल प्राप्त करता है।[6] अश्वघोष जैसे कोई उद्योग पूर्वक पृथ्वी से खोदकर जल निकाले[7] तथा

---

1 आढ़या, जी0एक; "अर्ली इण्डियन इकानामिक्स" पृ0 42
2 अग्निहोत्री, प्रभुदयाल; 'पतंजलि कालीन भारत' पृ0 256 ।
3 वही0 पृ0 262 ।
4. मजूमदार, आर0सी0; 'द् क्लैसिकल एकाउन्ट्स आफ इण्डिया', पृष्ठ-340.
5 रामायण 4/43/20-29.
6. मनु 2/218 यथा खनन्वनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्या शुश्रुषुरधिगच्छति"।।
7. अश्वघोष.- सौन्दरानन्द काव्य 17/22

मिट्टी खोदने में आदमी धूल-धूसरित हो जाया करते थे। मनु ने लिखा है कि कृत्रिम साधनों यथा (कुआ, तालाब, बावली आदि) का प्रयोग उसे स्वामी की आज्ञा के बिना यदि कोई व्यक्ति करता है तो वह पाप का भागी होता है।[1] यही नही मनु ने तड़ाग आदि कृत्रिम स्रोतों को नष्ट करने या क्षति पहुंचाने वाले के बध की सलाह भी राजा को दी है। किन्तु यदि वह उन्हें वैसा ही बनवा दे तो राजा उन्हें केवल उत्तम साहस (एक सहस्त्र पण) का दण्ड देकर छोड़ दे। विष्णु ने सेतुभंग करने वाले व्यक्ति के लिए मृत्युदण्ड का विधान किया है।[2] यहां पर सेतु का तात्पर्य नदी, तालाब, नहर आदि के बांधों से है। जिसका उपयोग कृषक जल को सुरक्षित रखने के लिए करते थे। तालाब, कुआं, बाग आदि के विक्रय करने वाले व्यक्ति को मनु पाप का भागी मानते थे।[3] तथा उनका बलपूर्वक अपहरण करने वाले को पाँच सौ पण एवं अज्ञानता से हरण करने वाले को दो सौपण दण्ड का अधिकारी घोषित किया है।[4]

इस प्रकार मनु के उपरोक्त विधानों से मौर्योत्तर कालीन कृत्रिम जल स्रोतों तालाब, जलाशय, बाँध कुआँ आदि को लोक कल्याण की भावना तथा कृषि कार्यो में फसलों की सिंचाई के लिए इनकी महत्ता स्पष्ट होती है।[5] तथा साथ ही इनका व्यक्तिगत निर्मित होना भी प्रमाणित होता है।[6]

---

1 मनु 4/226, 4/202.

2. विष्णु 5/15, ''सेतुमेदकनू'' ।

3 वही0 11/61

4 वही08/264 गृहं तड़ागमा रामं क्षेत्रं वा भीषयाहरन् शतानिपन्व दण्ड्यः स्यादज्ञानाद द्विशतोदमः।

5. आढ़या जी0एल0 'अर्ली इण्डियन इकनामिक्स', पृष्ठ- 38/39.

6. शर्मा आर0एस0, 'लाईट ऑन अर्ली इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकानामी पृष्ठ-100.

नहरों का निर्माण दो तरीके से हो सकता था एक तो सामूहिक प्रयत्न तथा दूसरा राज्य द्वारा[1]। व्यक्तिगत प्रयासों ऐसा करना काफी कठिन कार्य था। कलिंग राज खारबेल के द्वारा एक नहर के विस्तार के अतिरिक्त मौर्योत्तर काल में निर्मित नहरों के बारे में बहुत कम उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इस काल में तालाबों की अधिकता दिखायी पड़ती है। सम्भवतः इसके पीछे कई कारण रहे होंगे। एक तो नहरों की खुदाई की अपेक्षा तालाबों के निर्माण में कुछ कम परिश्रम लगता था। उत्तर मौर्य काल के उत्तरार्थ में शक-कुषाण काल में नहरों की अपेक्षा तालाबों की अधिकता के बारे में डा0 आर0एस0 शर्मा विचार करते हुए लिखते हैं इसका कारण सम्भवतः खेतों का आकार क्षेत्रफल की दृष्टि से छोटा होना था अथवा कुषाण राज्य अनेक छोटी-छोटी स्थानीय राज्य इकाईयों में बंटे रहने के कारण प्रयाप्त केन्द्रीय संगठन के अभाव में नहरों की व्यवस्था करने में असमर्थ रहे। जैसा कि इसके पूर्व मौर्य काल में दिखायी पड़ता है।

पतंजलि ने नहर या शूलों से धान सींचने का उल्लेख किया है।[2] जिससे वर्षा के जल को संग्रहित करके उसे धान के खेत तक ले जाने के लिए कुल्याओं या नालियों का उल्लेख आया है। 'कुसुल' शब्द का विद्वानों ने विभिन्न पाठ प्रस्तुत किया है। एक पाठ के अनुसार महाभाष्य में प्रयुक्त 'कुसुल' शब्द धान के खेत के चारों ओर खुदी हुई खाई से है[3] यद्यपि

---

1. शर्मा आर0एस0, 'लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकानामी'.
2 महाभाष्य 1/1/24.
3. कांजीलाल, डी0के0: आई0एच0क्यू0; भाग 31, पृष्ठ-376.

कुसुल शब्द का सामान्य प्रयोग खल्य के अर्थ में होता है।[1] कील हर्न[2] तथा बालमीकि[3] भी इसका अर्थ खाई से किया है। डा0 शर्मा इन कुल्याओं का उद्गम स्थल किसी स्थायी नहर से मानने से इनकार करते हैं।[4]

पतंजलि ने तालाबों के किनारे 'शलि' बोने की सलाह दी है[5] क्योंकि ये हमेशा पानी से भरे रहते थे। धर्मवती वेश्यायें कभी-कभी तालाब खुदवाकर दान देती थी। मिलिन्दपञ्हो में भी नहरों एवं जलाशयों के बहते हुए जल को बाँध के द्वारा रोककर सिंचाई करने का वर्णन मिलता है।[6]

साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त पुरातात्विक अन्वेषणों से मौर्योत्तर काल के सिचाई के बारे में प्रकाश पड़ता है। पुरातात्विक उत्यननों से 600 से 200 ई0पू0 पकी मिट्टी के अनेक छल्केदार (रिंगवेल) कुए हस्तिनापुर,[7] नई दिल्ली,[8] रोपड़,[9] उज्जैन,[11] मथुरा[12] और नासिक[13] में पाये गये है। छल्लेदार कुए पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार में अनेक स्थलों पर पाये गये हैं। मौर्यकाल में उत्तरी भारत में अन्य स्थानों पर इनका होना भौतिक जीवन का सामान्य लक्षण मालूम पड़ता है। इन छल्लेदार कुओं का उपयोग कुछ

1 शर्मा, आर0एस0 "लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकानामी पृष्ठ 98-99.
2. कीलहर्न 2/67.
3 रामायण 2/62/10.
4 शर्मा, आर0एस0 'लाईट आन अर्ली इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकानामी' पृष्ट-99.
5 अग्निहोत्री, प्रभुदायल, पंतजलि कालीन भारत, पृष्ठ-262.
6 मिलिन्दपञ्हों-7/7/9.
7 एन्शिएन्ट इण्डिया सं 10-11-16.
8. इण्डियन आर्कियोलाजी रिव्यू 1445-55 पृष्ठ-14.
9. वही0 पृष्ठ-7
11. वही0 1955-56 पृष्ठ-19.
12. वही0 1954-55 पृष्ठ-16
13. एच0डी0 सँकालिया, रिपोर्ट आन दी एक्स केवेशन्स ऐच नासिक एण्ड जोर्वे 1950-51.

सीड़गर्ता तथा कुछ जल के काम में लाये जाते रहे होंगे। यही स्थिति ईटों से बने कुओं की थी। ऐसा एक कुआँ उज्जैन[1] में पाया गया है। अशोक के अभिलेखों में प्रत्येक कोष की दूरी पर पन शालाओं के लिए कुएं खोदवाने की चर्चा है। पटना में गंगा के दाहिने किनारे में कटाव के फलस्वरूप बहुसंख्यक छल्लेदार कुए मिले हैं लेकिन हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि इनका सिंचाई के लिए किया जाता था। हाँ केवल अनुमान किया जा सकता है कि इनका प्रयोग सिंचाई के लिए किया जाता रहा होगा।[2] मौर्योत्तर काल में मथुरा[3] के कुछ छल्लेदार कुओं का प्रयोग सम्भवतः प्रेय जल के लिए होता था। साहेथ में मिले कुए की तिथि ईसा की दूसरी शताब्दी निर्धारित की गयी है।[4] उत्खनन के समय इस कुएं से मीठा और साफ पानी निकला है जिसका उपयोग मजदूर उत्खनन के दौरान करते रहे।[5] मौर्योत्तर काल में कुल मिलाकर कुओं की संख्या में वृद्धि दिखाई पड़ती है। हस्तिनापुर के काल चतुर्थ (प्रारम्भिक दूसरी सदी ई0पू0 से तीसरी सदी ई0 तक) का एक मात्र पकी मिट्टी के छल्लेदार कुएं से संकेत मिलता है कि यद्यपि छल्लेदार कुएं के प्रथा इस काल तक बनी रही तथापि पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा कम बनते थे। उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मौर्योत्तर काल में कुएं का प्रयोग पीने के पानी तथा सिंचाई के लिए होता रहा होगा।

---

1. इण्डियन आर्कियोलाजी रिव्यू 1956-57 पृष्ठ-27.
2 घर्मा आर0एस0 प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास.
3. इण्डियन आर्कियोलॉजी रिव्यू 1954-55 पृष्ठ-16.
4. माशर्ल ए0एस0आर0 1910-11 पृष्ठ-24.
5. मार्शल ए0एस0आर0 1910-11 पृष्ठ-24.

मौर्योत्तर काल में सिंचाई के लिए राजकीय प्रयत्नों तथा प्रोत्साहनों का उल्लेख हमें कतिपय समकालीन अभिलेखीय व पुरातात्विक साक्ष्यों में मिलता है। यद्यपि अर्थशास्त्र[1] में उल्लिखित मौर्य शासकों की भांति सिंचाई के साधनों के देखभाल एवं निगरानी के लिए अलग से किसी विभाग की जानकारी मौर्योत्तर काल में नहीं मिलती। लेकिन कलिंग राजा खारवेल एवं सौराष्ट्र शासक रुद्रदामन[2] जैसे कुछ राजाओं के अभिलेखों में तालाबों एवं झीलों के पुनरुदार के उल्लेख मिलते हैं। जिससे पता चला तालाब खुदवाकर उसमें बांध बनवाकर उसके जल से सिंचाई का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जाता था।

श्रृगवेरपुर, कौशाम्बी, तक्षशिला, हस्तिनापुर, अहिछत्र, भीटा, नासिक और उज्जैन आदि के उत्खन्नों से भारत में अनेक तालाबों एवं जलाशयों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। जिसमें सम्भवत: धार्मिक पृष्ठभूमि ही दिखाई पड़ती है।[3] उत्यन्न के आधार पर मार्शल महोदय ने इसकी तिथि दूसरी तीसरी शदी ई0पू0 में रखा है। इलाहाबाद के श्रृंगवेरपुर से ई0 सन् का एक बड़ा तालाब प्रकाश में आया है, लेकिन गंगा के किनारे होने के कारण इसका उद्देश्य स्पष्ट नहीं है।

---

1. अर्थशास्त्र 2/24 (सीताध्यक्ष).
2 इपी0 इण्डिया-8 पृष्ठ-36-49.
3 अढ्या, जी0एल0, 'अर्ली इण्डियन इकानामिक्स पृ0-40 तथा 'आर0एस0 शर्मा' लाइट ऑन अर्की इण्डिया सोसाइटी एण्ड इकानामी' पृ0-91.

यूनानी दतिअपुत्र थेयोदोरस ने 29 ई0 में सभी जीवों के सम्मान में एक तालाब बनवाया था।[1] (सम्भवतः स्वात में)। जिसका उपयोग सिंचाई के लिए होता रहा होगा।[2] ईसवी सन् तथा उससे पूर्व के निर्मित मथुरा के लगभग समस्त तालाबों का उद्देश्य सिंचाई ही था। जैसा कि शक नरेश सोडास (50 ई0 सन्) के मथुरा पाषाण अभिलेख में वर्णित उसके शैग्रव गोत्रीय ब्राहमण कोषाध्यक्ष द्वारा तदर्थ निर्मित एक तालाब से विदित होता है।[3]

इस प्रकार शक, कुषाण, सातवाहन काल में अभिलेखीय तथा पुरातात्विक स्रोतों से सिद्ध होता है कि ये सभी एक मात्र सिंचाई के लिए निर्मित थे। इस बात का हमारे पास कोई ठोस प्रमाण नहीं है। लेकिन हम अनुमान के आधार पर कह सकते हैं कि आज की भाँति उन दिनों भी इन तालाबों का प्रयोग सिंचाई के लिए होता रहा होगा।

समकालीन साहित्यिक ग्रथ मिलिन्दपञ्हों में सांगल नगर के एक ऐसे ही तालाब पोखरणी का उल्लेख आया है।[4] शक शासक रूद्रसिंह्र के सेनापति रुद्रभूति ने काठियावाड़ के किसी गाँव में एक तालाब खुदवाया था[5] जिसका एक मात्र उद्देश्य सिंचाई था। जैसा कि भारत के इस भू भाग का कृषिगत महत्व भी इस ओर संकेत करता है।[6] कलिंगराज

---

1 स्टेनकोनो: खरोष्ठी इन्सकिप्शन्स भग 1, पार्ट-2, पृष्ठ-65-66
2 वही0 पृष्ठ-178.
3. सरकार, डी0सी0 सेलेक्ट इंसाक्रिप्शन्स भाग 1, पृष्ठ-119, 2/1-8.
4 (मिलिन्दपञ्ह) आर0एस0 शर्मा, 'लाईट आन अली इण्डिया सोसाइटी एण्ड इकानामी'.
5 सरकार, डी0सी0: सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स भाग-1 पृ0 176
6. आढ़या जी0एल0 इण्डियन इकनामिक्स पृ0-39.

खारवेल तथा सातवाहन-नरेश श्री पुलमावी द्वारा निर्मित्त अनेक तालाब भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण थे[1]

भारतीय शासकों ने तालाबों के अतिरिक्त नहरों के निर्माण में रुचि ली थी। कलिंग नरेश खारवेल के हाथी गुफा अभिलेख में एक ऐसी नहर का वर्णन है। जिसमें उसे हजारों रुपये खर्च करने पड़े थे[2] और जिसका उद्देश्य अपनी प्रजा को सिंचाई एवं आवागमन की सुविधा प्रदान करना था।[3] प्रो0 एस0 पी0 टालस्टाय के खुरासान उत्खनन से इस कलिंग नहर की कुषाण कालीन मौलिकता प्रमाणित है।[4] परन्तु कुषाण काल से सम्बन्धित किसी नहर का भारतीय पुरातत्व से आस्तित्व प्रमाणित नही हो पाता।[5] पुरातात्विक साक्ष्य से कुम्हरार में एक लगभग 450 फीट लम्बी 45 फुट चौड़ी और दस फुट गहरी नहर मिली है। जो कि मूलतः मौर्य काल में निर्मित थी।[6]

हाथीगुम्फा अभिलेख में उल्लिखित 'तिवसत' शब्द का अभिप्राय तीन सौ वर्ष अथवा एक सौ दोनों हो सकता है द्वितीय आशय के अनुसार नहर का निर्माण मौर्यकाल के अन्तिम चरण में प्रमाणित होता है।[7] ऐसी अवस्था में खारवेल ने अपनी राजधनी कलिंग तक तनसुलिय मार्ग होकर इस नहर का विशेष विस्तार करवाया होगा। न कि नवनिर्माण।

---

1 सरकार डी0सी0 सेलेक्ट इन्स किपशन्स, भाग 1, पृ0-206-211 भाग-1 पृ0-205.
2. वरुआ, ओल्ड ब्राहमी इन्सक्रिप्शन्स पृ0-39.
3. वही0
4 राहुल सांकृत्यायनः मध्यऐशिया का इतिहास 1, पृ0-161.
5. शर्मा आर0एस0, 'लाइट ऑन अर्ली इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकानामी' पृ0-97.
6. इण्डियन आर्कियोलाजी 1954-54 पृ0 19.
7. शर्मा आर0एस0, 'लाइट आन अर्की इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकानामी' पृ0-97.

इस प्रकार हम कह सकते हैं मौर्योत्तर काल में नहरों द्वारा सिंचाई तो होती थी। लेकिन इस काल में किसी नई नहर का प्रमाण हमें नहीं मिलता।[1]

मौर्योत्तर काल में राज्य द्वारा निर्मित कुपों के बारे में कुछ अभिलेखों में सूचना मिलती है। जिनका उपयोग सिंचाई के लिए होता था। यथा-कनिष्ठ द्वितीय के आरा अभिलेख[2] एवं पुलमावि के अन्धावों अभिलेख[3] इसी प्रकार श्रीघरवर्म्मण के कानखेरा पाषाण अभिलेख[4] रूद्रसिद्ध प्रथम के गुन्दा पाषाण अभिलेख[5], शंकर दर्रा अभिलेख[6] उन्द अभिलेख[7] पेशावर म्यूनियम अभिलेख 21 तथा 168[8] आदि में राज्य द्वारा प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से निर्मित कूपों का उद्देश्य अन्य कार्यो के साथ-साथ फसलों की सिंचाई भी रहा होगा। लेंकिन किसी ठोस प्रमाण के अभाव में इस बारे में हम निश्चित रूप से कुछ नही कह सकते।

मौर्योत्तर कालीन शासकों (शक, कुषाण, सातवाहन आदि) के विषय में सिंचाई सम्बन्धी रुचि के बारे में शक-नरेश रूप्रदानन प्रथम के जूनागढ़ अभिलेख 150 ई0 सन् से और भी प्रकाश पड़ता है। अभिलेख से पता चलता है कि यह झील चन्द्रगुप्त मौर्य के सुराष्ट्र प्रान्त के गवर्नर पुष्पगुप्त

---

1 वही0 पृ0-98.
2 इपिका-इण्डिया-16.
3 शर्मा, आर0एस0, 'लाइट आन अर्की इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकानामी' पृ0-592.
4 सरकार, डी0सी0 सेलेक्ट ईसकिप्शन्स भाग, 1 पृ0-180-81.
5. वही0 पृ0-176-77.
6. स्टेनकोनाव खरोष्ठी इन्सकिप्शन्स, भाग 2 पार्ट 1 पृ0-159-60.
7 वही0 पृ0-170-71.
8. वही0 पृ0-79-155-57.

द्वारा क्षेत्रों की सिंचाई हेतु निर्मित करवायी गयी थी। कालान्तर में अशोक महान के समय में 'तुषाष्क' ने उसकी मरम्मत करवायी। आगे चार सौ वर्षो तक उसके भाग्य के बारे में कुछ पता नही चलता। (शर्मा आर0एस0 (लाइट आन अर्की इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकानामी)[1] लेकिन शक नरेश रूद्रदामन ने बाढ़ आदि के कारण इसके बांध के टूट जाने पर अपने पार्थियन अमात्य सुविशाख की देख-रेख में पुनर्निमाण करवाया। पहले की अपेक्षा बाँध की ऊंचाई तीन गुना बढ़ा दी गयी। जिसमें की काफी धन व्यय हुआ।[2] जूनागढ़ अभिलेख से पता चलता है। उसके पहले शासक सिंचाई आदि की व्यवस्था के लिए राज्य की ओर से करने के लिए प्रजा से किसी न किसी रूप में सहायता लेने की अपेक्षा रखते थे। लेकिन रूद्रदामन ने ऐसा नही किया। लगता है कि अवेदमात्रक भूमि की व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य माना जाता था और राज्य उनपर तदनुसार कर की मात्रा भी निश्चित करता था।[3]

उपरोक्त विवरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मौर्योत्तर काल में आर्थिक सम्पन्नता हेतु कृषि की उन्नति के लिए एवं उसके समयानुकूल सिंचाई आदि की व्यवस्था के लिए सराहनीय कार्य किया। फिर भी मौर्य काल की तुलना में इस काल में कृषि एवं सिंचाई व्यवस्था की स्थापना के लिये पृथक विभाग के अस्तित्व एवं सीताध्यक्ष जैसे पदाधिकारी की नियुक्ति की सूचना नहीं मिलती तथा न ही राजस्व के महत्वपूर्ण स्रोत

---

1. शर्मा आर0एस0 'लाइट ऑन अर्की इण्डियनप सोसाइटी एण्ड इकानामी' पृ0-95.
2. वही0 पृ0- 95-06.
3. शर्मा आर0एस0 'लाइट आन अर्की इण्डियन सोसाइटी एक इकानामी' पृ0-99-100.

उद्रकभाग जैसी किसी भी राजकीय व्यवस्था का वर्णन हमें इस काल में नहीं मिलता। इसका कारण सम्भवतः यह था कि तत्कालीन भारतीय शासकों ने यह कार्य अधिकतर व्यक्तिगत हाथों में सौप दिया था। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में वर्णित पानी ऊपर उठाने के विशिष्ट यन्त्र तथा नासिक बौद्ध गुफा अभिलेख में वर्णित अभियांत्रिकों द्वारा निर्मित जल वाहक इंजनों से फसलों की सिंचाई हेतु तथा कथित इन जल स्रोतों से पानी निकलाने की कोई व्यवस्था थी या नही इस बारे में निश्चय पूर्वक हम कुछ नहीं कह सकते। फिर भी अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि इस काल में चरस, मोट, रहट आदि का प्रयोग पानी निकालने के लिए होता रहा होगा। कमोवेश पूर्व काल की भाँति आगे मौर्योत्तर काल में भी सिंचाई की व्यवस्था जारी रही होगी जिसका प्रमाण मौर्योत्तर काल की आर्थिक स्थिति समृद्धपूर्ण होना है।

तृतीय-अध्याय

उद्योग-धन्धे

उद्योग धन्धे

विवेच्य कालीन स्रोत ग्रथों से पता चलता है कि उत्तर भारत में बेड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धों का विकास हो रहा था। मौर्य-काल में अधिकांश उद्योगों पर राज्य का प्रत्यक्ष नियत्रण था। लेकिन विवेच्य काल में कुछ ही उद्योगों पर राज्य का नियंत्रण रह गया था। जिसके कारण उत्तर भारत में शिल्पियों तथा व्यवसायियों को स्वतन्त्र रूप से उत्पादन में बृद्धि करने तथा अधिकाधिक लाभ कमाने का अवसर प्राप्त हुआ। द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व से द्वितीय शती ईसवी के बीच की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही कि आर्थिक जीवन एवं अर्थतन्त्र की प्रगति पर समकालीन राजनीतिक परिदृश्य का कोई प्रभाव परिलक्षित नही होता। जिसका प्रधान कारण सम्भवत: यह रहा कि उत्तर-भारत में उत्तर भारत में स्थानीय एवं विदेशी जो भी शासक सिंहासनारूढ़ हुए उनकी नीति आर्थिक क्षति पहुँचाने में नही, बल्कि आर्थिक रूप से सुदृढ़ स्थायी राज्य स्थापित करके आर्थिक तत्वों एवं साधनों की निरन्तरता को विकासशील से विकसित तक पहुँचाने की रही है। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण शक-सातवाह्नो के मध्य हुये संघर्ष में व्यापरिक प्रतिष्ठानों पर सम्प्रभुता स्थापित करने की पारस्परिक प्रतिद्वरिता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

विवेच्यकालीन स्रोत ग्रथों से पता चलता है कि इस समय के धर्मशास्त्रकारों ने शिल्प और व्यवसायों के प्रति रूढ़िवादी दृष्टिकोण अपनाया

था। यही नही उन्होंने नट, धोबी, मद्य विक्रेता तथा वधिक के साथ-साथ नाई, चारण, चिकित्सक, स्वर्गकार, लोहार, शस्त्र विक्रेता, बुनकर, तेली, भाड़े पर गाड़ी चलाने वाले, बढ़ई, रज्जक, रंगरेज का अन्न भी अभोज्य माना था।[1] उन्होंने केवल शूद्र जातियों को ही विभिन्न शिल्पों में लगाने का विधान किया है।[2] मनु के अनुसार हाथी, घोड़े, ऊँट को प्रशिक्षण देने के लिए ज्योतिष-विद्या, शिकार, महाजनी और कृषि द्वारा जीवन यापन करने से उच्च वर्ग के लोगों की प्रतिष्ठा गिर जाती है।[3] गोपालन, वाणिज्य, शिल्प, कलाबाजी, संदेश वाहक का कार्य, और दासता जैसी वृत्तियों में लगे ब्राह्मणों से शूद्रवत् व्यवहार किया जाना चाहिए।[4] याक्षवल्क्य के अनुसार आपत्ति काल में वैश्य की वृत्ति अपनाने वाले ब्राह्मण को भी अतसी के रेशों, बकरे के बालों, रेशम से बने वस्त्र और नील का विक्रय नही करना चाहिए।[5]

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्मृतिकारों के ये प्रावधान केवल सैध्दान्तिक थे, व्यवहारिक नही। मनुस्मृति मैं उल्लेख प्राप्त होता है कि कारीगर के हाथ तथा पण्य (व्यापारिक वस्तुए) सदैव शुद्ध रहती है।[6] मनु ने जीविका के दास साधनों में शिल्प को दूसरे स्यान पर रखा है।[7] अन्तेवासी द्वारा गुरू से शिल्पादि सीखने तथा सिखाने की

---

1. मनु0 4/219 याज्ञवल्वन्य 1/161-162, विष्णु 11/13-14 ।
2. विष्णु 10/35 याज्ञवल्वन्य 1/120
3. मनु0 3/162-66
4. मनु0 3/162-66
5. वही0 8/102
6 याज्ञवल्क्य-3/36-38
7. मनु0 5/129 "नित्यं शुद्धः कारूहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ।
   ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः" ।।

अवधि पहले ही निर्धारित कर दी जाती थी और यदि शिष्य शिक्षा समय से पूर्व पूरी का लेता था तब भी उसे निर्धारित कालावधि तक गुरू के यहाँ रहकर शिल्प सम्बन्धी काम करना पड़ता था।

विवेच्य काल में शिल्प तथा उद्योग पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, प्रभाव एवं व्यवस्थित दिखायी पड़ते है। अब उनकों अपने व्यवसाय से सम्बन्धित नियम बनाने का वैधानिक अधिकार प्राप्त हो गया था जिसे राज्य द्वारा मान्यता भी प्राप्त थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि शिल्पियों तथा व्यवसायियों के शोषण में कमी आयी तथा उत्पादन में वृद्धि हुई और साथ-साथ देश के अन्दर तथा देश के वाहर विक्रय किया जाने लगा ।

वस्त्र उद्योग

इस समय उत्तर-प्रदेश में काशी, मथुरा, गुजरात, बंगाल राज्य, आन्ध्रप्रदेश में मछलीपट्टम् तामिलनाडु में उरैयूर, तंजावुर नगर वस्त्र-उद्योग के लिए काफी प्रसिद्ध थे। जहाँ पर अनेकों प्रकार के वस्त्रों का निर्माण किया जाता था। इस काल के बौद्धग्रथों में खुमा, कपास, कौशेय, ऊन, सन्, भंगा आदि[1] के उल्लेखों के अतिरिक्त कार्पासिक, तूलवाय, ऊर्णवापक (कपास तथा ऊन का वस्त्र-बुनने वाला), चैलधोबक (धोबी), रज्जक (रंगरेज), रक्त रजक[2] (लाल रंग का रंगने वाला) के भी उल्लेख है। मिलिन्दपञ्ह तथा रामायण में सूत की कताई तथा बुनाई का दो प्रथम उद्योगों के सप में वर्णन प्राप्त होता है।[3] मनु ने वस्त्र दान को पुण्य कर्म माना है।[4] "दिव्यावदान" में वस्त्र बुनने की प्रक्रिया का निम्न प्रकार से विवरण प्राप्त होता है- "सबसे पहले कपास की ओटाई की जाती थी, उसके बाद बराबर मोटाई का सूत काता जाता था। जुलाहे की पत्नी माड़ लगाकर ताना तैयार करती थी, इसके बाद जुलाहा वस्त्र बुनना प्रारम्भ करता था।[5] पतंजलि के महाभाष्य में जुलाहे द्वारा बुने जाने वाले वस्त्र का आकार

---

1 महावग्ग जातक- 1/30/4

2 महावस्तु 2/466/4-7

3. मिलिन्दपञ्ह-331, रामायण 2/83/12 ।

4. मनु0 4/231 ।

5 अढ़या, जी0एल0 "अर्ली इंडियन इकोनामिक्स दिल्ली-1966 पृष्ठ 74

के अनुसार अपना सूत फैलाने तथा साड़ी (शाटक) बुनने का विरण है।[1] बुनाई के बाद वस्त्रों को मसाले से धोकर साफ किये जाने का उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है।[2] "मिलिन्दपञ्ह" में एक स्त्री द्वारा सूत कातने से लेकर शाल बुनने तक की सम्पूर्ण कथा का वर्णन मिलता है।[3] मिलिन्दपञ्हों से स्पष्ट होता है कि कताई और बुनाई दो अलग-अलग शिल्प थे।[4]

नये ब्रह्मचारी को उसीदिन का कपड़ा पहनने का विधान है।[5] महावग्ग-जातक मैं क्षौम, कपास, रेशम, ऊन और सन् का कपड़ा बनाए जाने का उल्लेख है। इस प्रकार हम कह सकते है कि वस्त्र उद्योग विवेच्य काल में एक महत्वपूर्ण उद्योग का रूप धारण कर चुका था इस समय सूती, ऊनी, रेशमी, कपड़े बनते थे। काँची, अरिकमूडु तथा मास्की आदि स्थानों से विवेच्य-काल के पक्की मिट्टी के तकुए एवं फिरकी मिले हैं[7] मनु (8/39) के अनुसार 10 पल सूत के बदले में जुलाहे द्वारा (कलफ आदि लगाकर) 11 पल भार का बुना कपड़ा देय था। सूत के भार से बुने वस्त्र का भार कम होने पर बुनकर से 12 पण अर्थदण्ड वसूलने का

---

1. महाभाष्य 1/1/54
2 वही0 1/1/45
3 अड्या, जी0एल,- "अर्ली इण्डियन इकोनामिक्स, दिल्ली-1966 पृष्ठ 74
4 मिलिन्दञ्ह- 311 मझिम निकाय 2,12 ।
5. आपस्तम्ब गृह्यसूत्रः - 4,10,10
7. साऊथ इण्डियन स्ट्डजी पृष्ठ 62

प्रावधान किया गया था। मनु ने लिखा है कि ब्राह्मण विद्यार्थी का यज्ञोपवीत रूई का क्षत्रिय का, क्षुमा का और वैश्य का ऊँन का होना चाहिए ।[1]

विवेच्य काल में देश के विभिन्न भागों में सूती-वस्त्रों के कई महत्वपूर्ण केन्द्र थे। ''दिव्यावदान'' में अपरान्त (उत्तरी कोकण) के वस्त्रों का वर्णन प्राप्त होता है। इसी ग्रथ में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि सूप्पारक की एक दूकान में केवल अपरान्त के वस्त्रों का ही क्रय-विक्रम होता था तथा दूसरी दूकान में काशी के निर्मित वस्त्रों का[2]। उत्तर-भारत का मथुरा तथा काशी नगर विवेच्य काल में वस्त्र निर्माण के लिए विख्यात था मथुरा के 'शाटक' नामक कपड़े की पूरे देश तथा विदेशों में माँग थी।

साँची के महास्तूप पर उत्कीर्ण लेखों से कार्पासिकग्राम कपास के खेत का उल्लेख है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्राम कपास की खेती के लिए प्रसिद्ध रहा होगा। पेरिप्लस (6) में उल्लेख मिलता है कि काठियावाड़ का ऐरियका प्रदेश कपास एवं सूती-वस्त्रों के निर्माण के लिए प्रसिद्ध था और यहाँ सूती वस्त्र पूर्वी अफ्रीका को निर्यात किया जाता था। वर्मिंग्टन के अनुसार लगभग 100 ई0 के आस-पास भारत से सीरिया एवं अलेग्जेड्रिया को रूई निर्यात किया जाता था। भारत का मलमल सर्वाधिक प्रसिद्ध था। पेरिप्लस (62-63)

---

1. मनु0 2,44 ।
2. मोती चन्द-''सार्थवाह'' 99-101 ।
3. लूडर्स लिस्ट सं.-260, 515 दिव्यावदान पृष्ठ-212

में गांगेय बंगाल तथा मसलिया (मछलीपट्टम) के मलमल सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। बेरीगाजा में उज्जैन तथा तगर से मलमल एंव अन्य वस्त्र आते थे।[1] जहां से उन्हें देश के अन्य भागों में तथा विदेशों में भेजा जाता था।

महाभारत से ज्ञात होता है कि शकों एवं तुखारों के राजाओं ने युध्दिष्ठिर को सूती वस्त्र भेट किया था । पतंजलि के महाभाष्य में मथुरा में 'शाटक' नामक कपड़े का उल्लेख मिलता है। मथुरा में कपड़े बुनने की प्रथा का प्रचलन था। चूंकि उत्तर-भारत में मथुरा नगर विवेच्यकाल में काफी प्रसिद्ध था। इसलिए यहाँ पर अन्य उद्योगों के साथ-साथ वस्त्र उद्योग का काफी विकास हुआ। यहाँ का शाटक-नामक कपड़ा काफी मशहूर था। मनु के द्वारा बुनकरों के उत्पादन पर कर लगाए जाने की व्यवस्था से बुनकर वर्ग के महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है। अरिकमेडु की खुदाई से कुछ भवनों का पता चला है जिनमें आंगन एवं टंकिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग मलमल बनाने तथा कपड़े को रंगने में किया जाता होगा।

मनुस्मृति[2] तथा दिव्यावदान में[3] कई प्रकार के रेशम का उल्लेख प्राप्त होता है। पतंजलि से खुमा से बनने वाले रेशम को

---

1. पेरिप्लस: 45-51
2. मनुस्मृति: 5/120 कौशेय विकयोरूषै: कुतपानभरिष्टकै:
   श्री फलैरंगुपट्टानां क्षौमणां गौरसर्षपै:।।
3. दिव्यावदान: पृष्ठ 316

क्षौम कहा है।[1] महाभारत में 'कौशेय' को कीटज रेशम और पट्टज को पट्ट से बनने वाला उल्लिखित किया गया है। पतंजलि ने रेशम के लिए 'कौशेय' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार कोश जिसमें रेशम का कीडा रहता है से उत्पन्न होने के कारण कौशेय कहलाता है। 'पट्ट' शब्द मलबरी पर पलने वाले कीड़ो से बनने वाले रेशम के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2]

महावग्ग (5/10/13) मैं पशुओं की आकृतियों से अलंकृत रेशमी पलंगपोशों का उल्लेख है। कभी-कभी बौद्ध भिक्षु भी रेशमी वस्त्रों को धारण करते थे।[3] क्षौभ तथा बल्कल के धागे से निर्मित वस्त्र का भार उसमें प्रयुक्त धागे के भार के बराबर होता था।[4] मनु के अनुसार रेशमी वस्त्रों की धुलाई-सफाई श्रीफल से और क्षौम एवं अतसी के रेशों से बने वस्त्रों की सफेद सरसों की खली से की जानी चाहिए। मनु कहते है कि रेशम तथा क्षौम की चोरी करने वाली को अगले जन्म में निकृष्ट योनि प्राप्त होती है।[5]

ऐसा प्रतीत होता है कि रेशमी कपड़े (कौशेय) का सबसे पहले उल्लेख पाणिनी ने किया है।[6] महावग्य जातक से एक मिक्षु को

---

1 अग्निहोत्री, प्रभुदयाल: "पतंजलि कालीन भारत" पृष्ठ 319
2. जे0बी0ओ0आर0एस0 1917 पृष्ठ 16
3 महावग्ग जातक 8/1/3/6
4. याज्ञवल्क्य; 2/180
5. मनु0 4/231; 12/64
6. पाणिनि0 6,3,42

रेशमी वस्त्र धारण करने की अनुमति दी गयी है। मौर्य कालीन तथा परवर्ती साहित्य में रेशम के लिए अनेक शब्दों जैसे-पत्रोर्ण, चीनपट्ट, चीनांशुक, कीटज, पट्ट, पट्टांशुक चीन, कौशेय आदि प्रयुक्त किया गया है। जो कि विवेच्य काल में बड़े पैमाने पर रेशमी वस्त्र के औद्योगीकरण की तरफ बढ़ने प्रमाण प्रस्तुत करता है।

सूती तथा रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त ऊनी वस्त्र का भी बड़े पैमाने पर निर्माण किया जाता था। महाभारत से ज्ञात होता है कि पश्चिमी देशों से आने वाले शक और रोमन और गुजरात के अमीरों ने पाण्डवों को ऊन उपहार के रूप में भेट किया था।[1] मनुस्मृति[2] के टीकाकार कुलूक ने 'कुतय' का अर्थ नेपाल का मुलायम कम्बल लिखा है। जातकों[3] में उडियान (स्वात) के कम्बलों का उल्लेख प्रापत होता है। जिससे स्पष्ट होता है, कि इस काल में नेपाल और अफगानिस्तान से कम्बलों का आयात होता था।

याज्ञवल्क्य (2/179) के अनुसार ऊन तथा कपास के मोटे सूत से कम्बल बनाने में 100 पल में 10 पल भार की बृद्धि होती है। मध्यम मोटाई के पतले सूत से बने वस्त्र में क्रमशः पाँच और तीन पल भार बढ़ जाता है। पतंजलि ने कम्बल बनाने में प्रयुक्त होने

---

1 महाभारत 2,50
2. मनु0 5/120
3. जातक: 4, 352

वाले ऊन को कम्बलीय कहा है।[1] विवेच्य काल में कम्बोज के कम्बल प्रसिद्ध थे। कम्बोज राज्य बकरे तथा कुत्ते, चूहे के बालों से बनने वाले वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था।[2] पतंजलि ने विक्रेय पण्य कम्बलों का उल्लेख किया है।[3] भरहुत के मूर्ति शिल्प में कुछ पुरूष कोट पहने दिखाए गये हैं।[4]

महावग्ग जातक में शण तथा शण के धागे का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा ही वर्णन महाभारत में मिलता है।[5] मनु ने क्षत्रिय बालक का यज्ञोपवीत 'शण' के धागे से बनाए जाने का नियम बनाया है।[6] दिव्यावदान के अनुसार निर्धन किसान 'शण' की बनी धोती पहनते थे। 'शण' से रस्सी बनाने का उद्योग का भी विकास इसी काल में हुआ। कृषक 'शण' तथा 'अतसी' के रेशों से बने वस्त्र पहनते थे।[7] क्षौम से कीमती वस्त्रों का निम्रण किया जाता था जिनका उपयोग उच्च वर्ग के लोग करते थे। उत्तर कुरू राज्य (हिमालय क्षेत्र में) की विजय के उपरान्त अर्जुन वहाँ से अन्य वस्तुओं के साथ क्षौम वस्त्र भी लाया था। रामायण में दशरण की रानियों के द्वारा क्षौम वस्त्र पहनने का उल्लेख प्राप्त होता है। सीता को विवाह के समय क्षौम

---

1 अग्निहोत्री, प्रभुदयालः "पतंजलि कालीन भारत" पृष्ठ 320
2. "सार्यवाह", मोती चन्द्र 29-30 अढ़या, जी0एल0 "इर्ली इण्डियन इकोनामिक्स" पृष्ठ सं0 71 ।
3. अग्निहोत्री, प्रभुदयालः "पतंजलि कालीन भारत" पृष्ठ 329
4 बरूआ भरहुत भाग-2
5. आदिपर्व अध्याय-146
6. मनु0 2/44
7 दिव्यावदान-83 एवं 194, आचारांग सूत्र 2/5/1/1 ।

कम्बल दिये गये थे।[1] भरत[2] को पीले रंग में क्षौम-वस्त्र तथा रावण को सुनहले रंग के क्षौम वस्त्रों में दिखाया गया है। सुश्रुत ने क्षौम का वस्त्र बनाने में उपोग किये जाने का उल्लेख किया है।[3]

इस प्रकार उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर हम कह सकते है कि विवेच्यकाल में वस्त्रों का निर्माण-कार्य अपनी चरम सीमा पर था और तत्कालीन समाज को विकास के पथ पर अग्रसर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी।

इस काल में कपड़े की धुलाई एक महत्वपूर्ण व्यवसाय के रूप में समाज में अपना स्थान बना चुकी थी। इस काल में कपड़े की धुलाई से सम्बन्धित कुछ नियमों का उल्लेख मिलता है। मनु के अनुसार धोबी को शाल्मली की लकड़ी के पाट पर सावधानी से वस्त्रों को धोने चाहिए और धुलने के लिए आये कपड़े को दूसरे को पहनने के लिए नही देना चाहिए।[4]

वस्त्रों की रंगाई का काम विकसित हो चुका था। विवेच्यकालीन साहित्य में रंगकार (रंगनिर्माता)[5] रज्जक[6] (वस्त्रों रंगने वाला), रक्त रज्जक[7] (वस्त्रों को लाल रंग में रंगने वाला), रंगावतारी[8]

---

1. जे0वी0ओ0आर0एस0 1917 पृष्ठ 192
2 सुन्दर काण्ड अध्याय 10
3 जनरल आफ इण्डियन हिस्ट्री गोल्डेन जुवली वाल्यम पृष्ठ 66 ।
4 मनु0 8/396
5 वही0 4/216 मिलिन्दपञ्ह 331, रामायण 2/83/15
6. याज्ञवल्क्य 1/164
7. महावस्तु 2/4/4-7 इ0 लाल "संस्कृत बौद्धसाहित्य में भारतीय जीवन" पृष्ठ 17
8. याज्ञ0 1/161

(रंगरेजी का काम करने वाली स्त्री) का विवरण प्राप्त होता है। रज्जक तथा चैलधोवक के प्रथम उल्लेख रंगरेजी की कला में विकास तथा विशिष्टीकरण का प्रभाव प्रस्तुत करते है। पतंजलि ने लाख, रोचना (हरताल), नीली, प्रतिहरिद्रा (हल्दी) तथा महारजन से वस्त्र रंगे जाने का उल्लेख किया है।[1] रामायण में रावण की स्त्रियों को रंग बिरंगें वस्त्र पहने दर्शाया गया है। रामायण में छपी कालीनों, विछाई कम्बल एवं चादर भी वर्णित है। सफेद रंगों के कम्बलों के अतिरिक्त एक ही वस्त्र के विभिन्न भागों को भिन्न रंगों में रंगने के भी उल्लेख मिलते हैं।

ईसवीं सन् की प्रारंम्भिक सदियों में भारत के रंगीन वस्त्रों की रोम में काफी मांग थी। खुदाई के दौरान उरैयूर में मिली टंकी की पहचान विद्वानों ने वस्त्रों की रंगाई करने वाली टंकी के रूप में किया है।[2] प्रायदीपीय भारत में रंगरेजों के कुण्ड खुदाई में मिले है। कुछ विद्वानों के अनुसार विवेच्य-करक में भारत के रंगरंजों ने वैज्ञानिक तरीकों से रेशम को रंग में डूबोकर सूत रखने की तकनीक सीख ली थी। "रंगमहक" में किये गये पुरातात्विक उत्खननों मृत्पात्रों के आन्तरिक भाग में उत्तर-कुषाण काल के कपड़े के डिजाइनों के

---

1 महाभाष्य 3/1/1 प्रमुदयाल अग्निहोत्री पतंजलि कालीन भारत पृष्ठ 317

2 "साऊथ इण्डियन स्टीज" पृष्ठ 61

छापे पाये गये है।[1] जिससे स्पष्ट होता है कि कृषाण काल में वस्त्र निर्माण उद्योग के रूप में विकसित हो चुका था।

वस्त्र निर्माण के साथ सिलाई का गहरा सम्बन्ध है ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध युग से ही दर्जीगीरी की प्रथा का प्रारम्भ हो चुका था जो विवेच्य काल में भी जारी रहा है। लेकिन हिन्द पहलवों के द्वारा चलायी गयी अनेक प्रकार की नई पोषाकों के कारण इस दस्तकारी को प्रोत्साहन मिला। मथुरा की मूर्तिकलाओं में कुरतों (कंचुकों) पायजामों, लवादों, अथवा आवरणों, रंगीन कोट, ओवर कोट, कसीदा किये हुए कोट, लहगों, साया, शंक्वाकारटोप, लम्बीवाहों वाले कुरतों, लम्बे पायजामों इत्यादि का बारम्बार अंकन है। जिनका उल्लेख फागेल, अग्रवाल, और कृष्णदत्त बाजपेई ने किया है। अतः स्पष्ट होता है कि दरजियों (प्रवरिक) के लिए इन सब के कारण पर्याप्त कार्य उपलब्ध थे। मथुरा के अभिलेखों में दाता है रूप में दरजियों के अनेक प्रसंग है। दरजी इतने वाली होते थे कि अपने वक्त पर मठ का निर्माण करते थे।[2]

1 अढ़या, जी0 एल0: "अर्ली इण्डियन इकोनामिक्स" पृष्ठ 75

2. मथुरा इन्स किप्सन्स सं0 7, 74, 81, 124, 133 पृष्ठ 74 ।

धातु-उद्योग

विवेच्य कालीन साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतो से पता चकता है कि अन्य उद्योगों की भाँति धातु उद्योग के क्षेत्र में भी काफी प्रगति हो चुकी थी। मिलिन्दपञ्हों में सोना, चाँदी, सीसा, ताँबा, लोहा, पीतल एवं टिन के कारीगरों का विवरण मिलता है।[1] शुंग कालीन ग्रंथ पतंजलि के महाभाष्य से पता चलता है कि इस समय अनेक व्यवसायों का चयन था जैसे लोहा, स्वर्ण, लकड़ी आदि।[2] सूत्र ग्रथों से ज्ञात होता है कि विवेच्य काल में ताँबे और लोहे के वर्तन बनाए जाते थे। सोने के चम्मच और पीतल के घंटे घड़ियाल बनाए जाते थे। डायोडोरस ने लिखा है कि भारत में सोना, चाँदी और लोहे की अनेक खाने है, और टीन और अन्य धातुओं से भी आभूषण और युद्ध के लिए उपयेगी वस्तुए (कवच सिर के टोप) और हथियार बनाये जाते है।[3] स्ट्रैवों[4] ने भी भारत में सोने और चाँदी की खानों का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के आकारकर्मान्त-प्रवर्तनम् शीर्षक अध्याय में स्पष्ट रूप से लिखा है। मौर्य काल में खानों से अनेक धातुएं निकाली जाती थी। इससे ऐसा प्रतीत होता है पूर्वकाल

1. बोस, ए0एन0-"सोशल एण्ड रूरल एकोनामी आफ नार्दन इण्डियन-2 बायल्यूम 1958 कलकत्ता 1942-45
2 मनु0 7/127
3. डायोडोरस 2, 36
4. स्ट्रैवो, 30

की भाँति विवेच्य काल में भी खानों से अनेक धातुओं को निकाले जाने का काम जारी कहा होगा ।

धातुओं की अच्छी तरह से जानकारी के बाद अलग-अलग धातुओं का अलग-अलग उद्योगों के रूप में कार्य का विभाजन होना स्वाभविक था। मिलिन्दपञ्हों में सोना, चाँदी, सीसा, टिन, ताँबों, पीतल और लाहे की वस्तुएं बनाने वालों के अलग-अलग नाम दिये गये है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गाँव के सबसे अधिक महत्व लोहार का था। लोहारों के अलग गाँव (कम्मार ग्राम) थे।[1] जिनमें आकर गाँव वाले कुठार, फाल, चाबुक का अग्र भाग आदि बनवाते थे।[2] जातकों में उल्लेख प्राप्त होता है कि लुहार काफी औजार बनाते थे। लुहार, किसानों मालियों, बढ़ई के औजार बनाने के साथ-साथ वे युद्ध के लिए कवच, सिरके टोप और हथियार भी बनाते थे।[3] लोहार द्वारा चमड़े की धौकनी से आग की लौ तेज करके लेहे को गर्म करने के बाद इसे सड़सी ,से पकड़कर आयोधन पर पीटने का उल्लेख प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य (2/178) के अनुसार तपाये जाने पर लोहे का भार 100 पल में 10 पल कम हो जाता है। पतंजलि ने लोहार एवं ठठेरे दोनों के लिए 'कर्मार' शब्द का प्रयोग किया है।[4]

---

1 दीघनिकाय 2, 88, मिलिन्दपञ्हो-331, एपिग्रफिका इण्डिका-2, 14.

2. जातक 3, 281, 545.

3. डायोडोरस 2, 44.

4. महाभाष्य 1/4/23.

इस काल में लोहे के कृषि उपकरण अस्त्र-शस्त्र, जंजीर कुदाल, हंसियाँ, अंकश, लगाम, कील तथा अन्य वस्तुएं बनती थी। गाड़ी एवं रथ के पहिए में भी लोहे का प्रयोग किये जाने का उल्लेख मिलता है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में लोहे की थाली, भगोन, लोहे के कटोरे एवं कलश आदि का उल्लेख किया है।[1] चाण्डाल लोग लोहे के अभूषण पहनते थे।[2] तक्षशिला के निकट सिरकप में लोहे की अनेक वस्तुऐ जैसे- वर्तन, हथियार, कवच घोड़े की लगाम, हाथी का साज, औजार और सुई आदि मिली है।[3] इससे स्पष्ट होता है कि ईसा के प्रारम्भिक शताब्दियों में भारतीय लोहे से इस्पात बनाना भली-भाँति जानते थे।[4] पेरिप्लस में लिखा है कि भारत से लोहे और इस्पात की बनी वस्तुएं अफ्रीका के बन्दरगाहों को भेजी जाती थी।[5]

वेसनगर से लगभग 100 ई0 की एक तलवार प्राप्त हुई है। इस प्रकार उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर हम कह सकते हैं कि द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से द्वितीय शताब्दी ईसवी के बीच उत्तर भारत में लोहे का काफी महत्व था तथा यह एक विकसित उद्योग के रूप में अपना स्थान बन चुका था। देश को समृद्ध बनाने में लोहे का महत्वपूर्ण योगदान था।

---

1. अग्निहोत्री, प्रभुदयल-पतंजलि कालीन भारत पृ0 314.
2 मनु0 8/271.
3 मार्शल, टैक्सिला खंड 2 पृ0 533.
4 अढ्या जी0एल0 अर्ली इण्डियन इकोनामिक्स पृ0 5.
5 पेरिप्लस 7, 40, 41.

लोहे के बाद दूसरी महत्वपूर्ण धातु तंबा थी। तांबा मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, उड़ीसा, तमिलनाडु की खानों से प्राचीन काल से प्राप्त किया जाता था। विवेच्य कालीन बहुत से राजवशों ने सिक्का ढ़ालने के लिए तांबे का प्रयोग किया था जिनमें कुषाणों का उल्लेख किया जा सकता है। कुषणों ने सबसे अधिक तांबे के सिक्के जारी किये। जो प्रायः भारत के सभी बड़े संग्रहालयों में उपलब्ध हैं। उत्तर-भारत के मथुरा नगर में सबसे अधिक तांबे के सिक्के मिले हैं। जिनसे प्रतीत होता है कि सामान्य जनता का भी सम्बन्ध बाजार और मुद्रा-विनिमय से था। उत्तर-बिहार में रामपुरवा के अशोक के स्तम्भ में एक तांबे का काबला मिला था। विद्वानों के अनुसार इसका समय ईसा पूर्व तीसरी शदी है। यद्यपि यह मौर्य काल है लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि आगे चलकर यह धातु भी उद्योग के रूप में विकसित हुई। यही नही इस काल में दानानुशासन भी अधिकाशतः तामपत्रों पर ही लिखे जाते थे। तांबे के वर्तन, उपकरण एवं अन्य वस्तुएं बनती थी। तक्षशिला के भीर टीले की खुदाई में विवेच्य काल के तांबे तथा कांसे के पात्र, औजार, उपकरण एवं आभूशण आदि मिले थे।[1] पेरिप्लस के अनुसार बेरीगाजा (भड़ौच) के बन्दरगाह से ओमान को तांबा निर्यात किया जाता था।[2] स्ट्रैवों ने भारतीय तांबे का उल्लेख किया है।[3]

---

1 आढ़या, जी0एल0 - "अर्ली इण्डियन इकेनमिक्स" पृ0 58.

2 वही पृ0 55.

3. स्ट्रैवों 15, 9, 69.

चरकसंहिता और मनुस्मृति में पीतल के लिए 'रिति' शब्द का प्रयोग किया जाता था। तक्षशिला में विवेच्य काल के पीतल और कांसे के औजार मिले हैं। इसके अतिरिक्त वर्तन, आभूषण और मूर्तियां मिली हैं। जिन पर विदेशी प्रभाव परिलक्षित होता है।

भारत में टिन तथा रांगा अल्प मात्रा में प्राप्त थे। अतः इन धातुओं का बहुत सीमित मात्रा में प्रयोग होना स्वाभाविक था। महावस्तु में शीशे तथा टीन के कारीगरों को क्रमशः सोसपिच्चटकर और त्रपुकारक कहा गया है।[1] आपत्तिकाल में भी ब्राहमण और क्षत्रिय के लिए शीशे तथा रांगे का विक्रय निषिद्ध था।[2]

सोना और चाँदी प्राचीन काल से ही बहुमूल्य धातु के रूप में जानी जाती थी। मनु के अनुसार सोने और चाँदी के दान करने से पुण्य का लाभ मिलता है।[3] मनु ने चाँदी के पात्र से पित्रों के पानी देना श्रेयस्कर बताया है।[4] पेरिप्लस (6) ने गंगा नदी में सोने की खानों का उल्लेख किया है। महाभारत से ज्ञात होता है कि राजसूर्य

---

1. ए०एल० "संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन" पृ० 211.
2. मनु० 10/89, याज्ञ० 3/36-38।
3. वही० 4/230
4. वही० 4/202

यज्ञ के अवसर पर बंगाल के मलेच्छ राजा ने सोना भेट किया था।[1] बौद्ध साहित्य में सोने के कारीगरों के लिए स्वर्णकार[2] हैरण्यक[3] (कच्चे सोने का आभूषण बनाने वाला), सुर्वणकार[4] (पक्के सोने का आभूषण बनाने वाला) और सुवर्ण धोबक[5] (सोना धोकर साफ करने वाला) शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पंतजलि ने उसके कार्य-विधि के विषय में लिखा है कि वह सोने को सड़सी से पकड़कर मट्टी में एकाधिक बार तपाता था उसके बाद उसे पीटता था।[6]

इस काल में स्वर्णकार सोने तथा चांदी का विभिन्न आभूषण, पात्र तथा अन्य कीमती वस्तुएं बनाता था।[7] पीले स्र्वणाभूषणों में मोम आदि भरा जाता था। तक्षशिला में खुदाई के दौरान इस तकनीक से बनी सोने की चूड़ियां मिली हैं।[8] पतंजलि ने कसौटी पर कसकर सोने की परीक्षा करने वाले (आकर्षिक) का उल्लेख किया है।[9] खोटे सोने के विक्रेता के लिए विधिशास्त्रियों ने अंगच्छेद के दण्ड का प्रावधान किया था।

---

1 सभापर्व : 2/30/27।
2. सौन्दरानन्द : 15/68-69।
3. महावस्तु : 3, 442/12.
4. वही0 2, 470/6 और 471/19.
5. ए0लाक0-"संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन" पृ0 211 ।
6. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल : "पंतजलि कालीन भारत" पृ0 315.
7. मनु0 5/112.
8. आढ्या, जी0एल0 : "अर्ली इण्डियन इकनामिक्स" पृ0 64.
9. पंतजलि महाभाष्य 3/1/92.

यद्यपि विवेच्य काल में चांदी अल्प मात्रा में पायी जाती थी तथापि इस काल में शकों, सातवाहनों तथा कई अन्य राजवंशों के राजाओं ने भारी संख्या में चाँदी के सिक्के जारी किये थे। परन्तु चाँदी की वस्तुएं नही मिली हैं। विवेच्य कालीन स्मृतियों में चाँदी के पात्रों का भी उल्लेख मिलता है।[1] नगार्जुनकोडा, ब्रहमगिरि, अरिकमेडु एवं उरैयूर आदि में सोने चाँदी तांबे, तथा कांसे के विभिन्न प्रकार के आभूषण प्राप्त हुए हैं।[2] सुनार अलग-अलग गाँवों में नहीं रहते थें बल्कि वे नगरों में रहते थे। पूर्व कालीन ग्रंथ अर्थशास्त्र में सोने व चाँदी के आभूषण बनाने वालों का अलग-अलग अध्याय में वर्णन है।

विवेच्य काल में भारत में रत्न एवं मुक्ता उद्योग ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की थी। मनु (9/329) वैश्य (जौहरी) को मणि, मुक्ता, मूंगे आदि के मूल्यों में आने वाली कमी तथा वृद्धि की जानकारी होना चाहिए। उन्होंने रत्नों, कीमती पत्थरों से बनी सभी वस्तुओं के विषय में झूठ बोलना पाप कर्म ठहराया है।[3] प्लिनी ने भारत को मुक्ताओं का भण्डार कहा है। उसने भारत में मिलने वाले उत्कृष्ठ पन्नें, उत्पल, गोमेद एवं कार्नेलियन, (तामड़ा पत्थर) आदि का उल्लेख किया है।

पेरिप्लस के अनुसार उस समय भारत में मुक्ता उत्पादन के चार केन्द्र थे-तामपर्णी नदी के मुहाने पर कोरकै, मन्नार की खाड़ी,

---

1. मनु0 5/112, याज्ञ0 1/182.
2 साउथ इण्डियन स्टडीज पृ0 62-63.
3. मनु0 8/100.

जलडमरूमध्य और बंगाल। जूनागढ़ अभिलेख से पता चलता है कि शकशासक रूद्रदामन-प्रथम का राजकोश हीरा, वैद्रूर्य एवं रत्न आदि से भरपूर था।[1] हाथीगुम्फा अभिलेख में विविध प्रकार के कीमती पत्थरों का विवरण प्राप्त होता है।[2] पतंजलि के अनुसार मणियाँ विभिन्न पत्थरों से प्राप्त होती है इसी लिए उसको आश्म कहा जाता है।[3] 'दिव्यावदान' में वणिज पुत्रों को रत्न परीक्षा की शिक्षा दिये जाने का उल्लेख है।[4] पेरिप्लस के अनुसार गोमेद, कार्नेलियन दक्षिण भारत में प्राप्त थे। वहां से वे पश्चिमी देशों को निर्यात किये जाते थे। टालमी ने सतपुड़ा पर्वत को सार्ड का स्रोत बनाया है। तक्षशिला से तमड़ा, गोमेद, हरिताश्म, जामुनी मणि, लाजवर्द, वैदूर्य एवं सूर्यकान्त जड़े आभूषणों की प्राप्ति हुई है।[5] प्लिनी ने हीरे, गोमेद तथा दूधिया पत्थरों का विवरण दिया है जो कि उस समय उपलब्ध थे।

इस काल में हाथी के दांत की बड़ी उपयोगिता थी। कलिंग राज्य हाथियों के लिए प्रसिद्ध था। सम्भ्वतः इसी लिए इसकी राजधानी का नाम 'दन्तपुर' रखा गया था।[6] पूर्वी मालवा की राजधानी नगर विदिशा इस समय दन्त उद्योग का एक प्रमुख केन्द्र था साँची के महास्तूप के तोरणद्वार को विदिशा के दन्तकारोंने बनाए थे।[7] पेरिप्लस (62) में दर्शाण (पूर्वी मालवा) के हाथी के दांत को दोसरेनिक कहा

---

1. सरकार, से0इ0 पृ0 सं0 173.
2 वही0 पृ0 सं0 209.
3 पतंजलि महाभाष्य 6/4/144.
4. दिव्यावदान (सं0 कावेल) पृ0 26, 100.
5. दिव्यावदान (सं0 करपेल) नृ0 26, 100.
6 ए0एन0 बोस-"सोशल एण्ड रूरल इकोनामी आफ नार्दन इण्डिया वायल्यूम-2 कलकत्ता 1942-45 पृ0 सं0 259.
7 एपिग्राफिका इण्डिया-2 पृ0 278.

गया है। महावस्तु में दन्तकारक का उल्लेख है।[1] इस समय नगरों में व्यापारी हुआ करते थे जो कि हाथी के दांत से तलवार एवं दर्पण आदि की मूठ आभूषण चौपट की गोट्टियां तथा बिलासिता की अन्य वस्तुएं बनाते थे। युधिष्ठिर को असम के शासक ने हाथी के दांत की मूठ वाली तरवार भेट किया था।[2] जातकों से पता चलता है कि बनारस में हाथी के दांत की सुन्दर वस्तुएं बनाई जाती थी। बेग्राम की खुदाई से विवेच्य कालीन हाथी के दांत के बने श्रृंगारदान के ढक्कन, पासे तथा जूड़ें में लगने वाले कांटे मिले थे। शंख के आभूषण एवं अन्य वस्तुएं बनाने वाले (शंखिका) के उल्लेख के अतिरिक्त शंख के पात्रों की शुद्धि के नियम भी वर्णित हैं।[3] करूर में शंख-घोघें आदि की कार्यशाला तथा कंगन एवं अन्य वस्तुओं की प्राप्ति हुई है।[4] विवेच्चय काल में उत्तर तथा दक्षिण भारत व्यापारिक मार्गो से जुड़ा हुआ था। व्यापारिक मार्ग की सुविधा के कारण दक्षिण भारत में प्राप्त होने वाले रत्न, मणियां आदि उत्तर-भारत के नगरों में खुले आम बिकती थीं। व्यापारी इन रत्नों को बेचकर काफी लाभ अर्जित करते थे।

अतः उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर हम कह सकते है कि रत्न उद्योग का काफी विकास हो चुका था। पूरे भारत में इसका व्यापार तो होता ही था साथ ही विदेशों से व्यापार में इसका बड़ा योगदान रहा होगा क्योंकि इनके बदले में देश में बड़े पैमाने पर सोना आयात होता था।

---

1 महावस्तु 3, 113/6-119.
2 भीष्म पर्व 96/50, सभापर्व 15/16 एवं 32.
3. याज्ञवल्क्यः 1/185.
4. 'साउथ इण्डियन स्टडीज' पृ0 63.

काष्ठ उद्योगः-

विवेच्य काल में काष्ठ-उद्योग की काफी उन्नति हुई थी। इस काल के स्रोत ग्रंथों से तक्षक, भ्रमकार,[1] रथकार,[2] काष्ठ, वाणिज, वल्कल वणिज (पेड़ों आदि के छाल के व्यापारी), तृण वणिज (तृण का व्यपारी) काष्ठहारक[3] लकड़हारा के उल्लेख प्राप्त होते है। लगभग प्रत्येक ग्राम में एक बढ़ई हुआ करता था। पतंजलि ने तीन प्रकार के बढ़ईयों का उल्लेख किया है।[4]

(i) **ग्राम-तक्षः-** जो गाँव के लोगों की दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएं बनाता था।

(ii) **कूट-तक्षः-** जो स्वतंत्र रूप से अपने घर में काम करता था।

(iii) **राजतक्षः-** जो राजा के आदेश से काम करता था। यह अत्यन्त कुशल तक्षक होता था।

इस समय बढ़ई मकान के लिए दरवाजे, चौखट, पल्ले बैलगाड़ी, नाव तथा जहाज, कृषि के उपकरण तथा अन्य विभिन्न प्रकार की वस्तुएं बनाता था। धातु के औजारों में भी बढ़ई का काम होता था। पतंजलि के महाभाष्य में गाड़ी के विभिन्न भागों के नाम

---

1. महावग्ग जातक : 1/56/396.
2. पंतजलि, महाभाष्य : 4/1/3.
3. ललितविस्तार 4/1/3.
4. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल,-'पतंजलि कालीन भारत' पृ0 312-13.

(चक्र, नेमि, नाभि एवं अक्ष आदि) तथा तक्ष के द्वारा इन्हें संयोजित करने का विवरण है।[1] प्लिनी के मानसूनी हवाओं के खोज के बाद मालाबार तथा श्रीलंका में 44 टन भार के जहाज बनने लगे थे। बढ़ई के औजारों में बसुला (वासी) एवं आरा तथा आरी, रूखान, आदि सर्वप्रमुख थे।[2] मिलिन्दपञ्ह में धनुष वाण के विशिष्टीकरण के साक्ष्य मिलते हैं।[3]

अतः उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर कह सकते हैं कि इस समय बड़े पैमाने पर बढ़इयों के द्वारा लकड़ी का काम किया जाता था। समाज में इनकी बड़ी ख्याति थी। अपने कुशल कारीगरी के कारण देश को औद्योगीकरण तथा समृद्धि बनाने में उनका बड़ा योगदान था।

मिट्टी के सामान तथा मूर्तिकलाः-

विवेच्य काल में मिट्टी के वर्तन तथा मिट्टी से मूर्तियां तथा अन्य वस्तुएं बनाई जाती थीं। पतंजलि के महाभाष्य में कुम्भकार, महाकुम्भकार[4] (विशेष दक्षता प्राप्त कुम्हार) तथा घटिकार (घड़ा बनाने वाला) का उल्लेख प्राप्त होता है। जो इस उद्योग में विशिष्टीकरण की तरफ संकेत करता है। याज्ञवल्क्य (3/146) ने कुम्भकार द्वारा मिट्टी

---

1. वही0 पृ0 311/312
2 महाभाष्य, 1/2/45.
3. मिलिन्दपञ्ह पृ0 331
4 पंतजलि, महाभाष्य.

के डंडे तथा चाक के संयोग से घड़ा बनाने का वर्णन किया है।[1] और पंतजलि के अनुसार वह मिट्टी के पिण्ड तोड़कर इससे घड़े तथा नांदे बनाता था।[2] सूत्रकालीन साहित्य से पता चलता है कि मिट्टी के 'शकोरे' बनाए जाते थे। इस काल के विशिष्ट मृदभाण्ड लाल चित्रित मृदभाण्ड हैं मार्शल ने शक-पहलव काल के इस प्रकार के मृदभाण्ड की बहुत प्रशंसा की है। तक्षशिला में मिले इन मृदभाण्डों पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है।[3]

उत्खननों में लाल रंग के मिट्टी के अनेक प्रकार के बरतन मिले हैं। इसके अतिरिक्त मर्तवान, कलश, कटोरे, घड़े, बड़े भांण्ड, चशक, प्यालियां आदि का मूर्तिकलाओं में चित्रण प्राप्त होता है जिनका उल्लेख फागेल और अग्रवल ने किया है। उत्तर-भारत के मथुरा नगर से कुछ ऐसे मृदभाण्ड पाये गये हैं जिनकी विशेषता पतली किनारी है। ऐसे मृद्भाण्डों में खासकर छिड़काव करने वाली सुराहियां उल्लेखनीय है जिनकी गरदन बोतल की तरह होती है। ये मृदभाण्ड उत्तरी काली पालिसदार मृदभाण्डों से भी पतली किनारी वाले हैं जिनमें अपेक्षाकृत अधिक दक्षता और बेहतर तकनीक का आभास मिलता है। जो भी हो छिड़काव करने वाली सुराहियां, जो ईसा की पहली दो-तीन सदियों की विशिष्ट मृदभाण्ड मालूम पड़ती है, मथुरा में

---

1. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, "पंतजलि कालीन भारत" पृ0 311.
2 वही0
3 मार्शल, टैक्सिला, खण्ड 2, पृ0 398.

विद्यमान थी। उनका व्यवहार धार्मिक प्रयोजनों में अथवा शहरी समाज के समृद्ध वर्गो द्वारा सुगन्धित जल छिड़कने के लिए होता होगा।

विवेच्य काल में उत्तर-भारत के मथुरा नगर में मूर्तिकार खासी संख्या में थे। जिनका संकेत पत्थर की खासकर लाल वलुआ पत्थर[1] की काफी मूर्तियां पाये जाने से मिलता है। अभिलेखों में अनेक मूर्तिकारों का उल्लेख मिलता है। मृण्मय वस्तुएं बड़ी संख्या में मिली हैं। देवांगना देशाई के अनुसार इनके निर्माताओं का विकास शहरी पर्यावरण में हुआ।

शहरी पर्यावरण के कारण मनोरंजन कर्त्ताओं का भी काफी बड़ा वर्ग था जिसमें अभिनेता, नर्तक आदि शामिल थे। जो धार्मिक प्रयोजनों के लिए दानकर्त्ता के रूप में दिखाई पड़ते हैं।[2] मूर्तियों में संगीत के उपकरणों का भी चित्रण हुआ है।[3] जिससे पता चलता है कि कुछ कारीगर इन उपकरणों को बनाने में लगे थे। चूँकि इस काल में पत्थर की पट्टियों, फलकों, प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता था, इसलिए शिल्पियों की बड़ी माँग रहती थी और सम्भवतः शिल्पियों को अच्छा खासा भुगतान किया जाता था।

---

1. फागेल, ए0 एम0 एम0, 188, अग्रवाल जे0 यू0 पी0 एच0 एस0 XXII,158, 188 उद्धत-आर0 एस0 शर्मा-"प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास" 1992 पृ0 स0-209.
2. मथुरा इन्सक्रिप्सन्स सं. 27 लूडर्स लिस्ट सं0 85, 100 उद्धत-आर0 एस0 शर्मा-वही0
3. फागेल, ए0 एम0 एम0, 126, अग्रवाल जे0 यू0 पी0 एम0 एस0 , 186-87, 131 में उद्धत-आर0 एस0 शर्मा-वही-

वास्तु-कलाः

विवेच्य काल में आर्थिक जीवन में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई पड़ता है वह यह है कि इस काल में नगरों की संख्या में बड़े पैमाने पर वृद्धि दिखाई पड़ती है। वैसे शहरी जीवन का प्रारम्भ तो ईसापूर्व छठी शताब्दी के लगभग हुआ था, किन्तु विवेच्च काल में वह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा। पुरातात्विक उत्खननें से हमें अद्योलिखित स्थानों पर नगरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यथा-कुरूक्षेत्र में राजा कर्ण का टीला, नयी दिल्ली का पुराना किला, राजस्थान के नोह उत्तर-प्रदेश के हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा, कौशाम्बी, सोख (मथुरा) पिपरहवा, राजघाट, मैसन (गाजीपुर) बिहार के चिराद और वैशाली तथा कुम्रहार, उड़ीसा के शिशुपालगढ़ आदि। अत: उत्खनन के आधार पर हम कह सकते है कि इस काल में केवल मध्यगंगा के मैदानों में ही नहीं बल्कि पूर्वोत्तर हिस्सों को छोड़कर सारे देश में नगर बस गये।

द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से द्वितीय शताब्दी ईसवी के बीच बिहार के चम्पा, पाटलिपुत्र, वैशाली और चिराद की स्थिति शिल्प और व्यापार की दृष्टि से अच्छी थी। वैशाली में शिल्पियों और कारीगरों की बड़ी संख्या में मुहरे मिली है जो गुप्तकाल की मानी जाती है किन्तु अक्षरों को देखने पर उनमें कुछ पूर्व गुप्तकाल की लगती है।

इस काल में भवन निर्माण के तरीकों में परिवर्तन आया मथुरा और पूर्वी उत्तर-प्रदेश के बस्ती जिले के 'गनवरिया' में चूना मिश्रित ईंट के टुकड़े से फर्श बनता था। इसमें सुर्खी का प्रयोग दिखाई पड़ता है। जिससे इमारतों में मजबूती आयी। सातवाहन और कुषाण के अधीन क्षेत्रों के अन्तर्गत विभिन्न स्थानों जिसमें कि मथुरा शामिल है में छाजन के लिए पके खपड़ों का प्रयोग किया जाता था। पाटलिपुत्र, वैशाली, चिराद में कुषाण-कालीन पक्की ईंटों के मकान मिले हैं। उत्तर-प्रदेश के नगरों की भी यही अवस्था है। खैराडीह, राजघाट (वाराणसी) श्रावस्ती, कौशाम्बी अतरंजीखेड़ा और मथुरा में मौर्योत्तर काल में समृद्ध भौतिक जीवन के अवशेष पाये गये है। रामशरण शर्मा ने अपनी पुस्तक 'अंर्बनडिके' में सवा सौ से अधिक उत्खनित स्थलों का उल्लेख किया है। आर0 एस0 शर्मा के अनुसार अधिकांश नगरों की व्यापारिक मार्गो पर स्थिति तथा व्यापार उद्योग को चलाने के निमित्त प्रभूत संसाधन से युक्त होने के कारण उन नगरों में शिल्प श्रेणियों तथा देशी-विदेशी व्यापारियों के आवागमन की गति तीव्र हो उठी। सम्पूर्ण उत्तर-भारत में व्यवसायिक उत्पादन को केन्द्र में रखकर सम्पूर्ण उत्पादकता के क्षेत्र में परिवर्तन एवं समृद्धि के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। जिसके आलोक में न केवल इन बाजारों का नवीन स्वरूप सामने आया बल्कि इन नगरों से होने वाले आयात निर्यात के व्यौरे से समकालीन आर्थिक जीवन एवं उनमें होने वाले परिवर्तन का स्पष्ट चित्र परिलक्षित होता है।

अतः उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इस काल में भवन-निर्माण का व्यवसाय काफी उन्नतिशील अवस्था में पहुँच गया था। इस काल के वास्तुकार भवनों को मजबूती देने के लिए चूने, ईंट के टुकड़े तथा सुर्खी आदि का प्रयोग करने लगे जो कि सर्वप्रथम विवेच्य काल में दिखाई पड़ता है। कुषाण कालीन स्तम्मो (खासकर पवित्र स्तम्मों) किलेबन्दियों इत्यादि से पता चलता है कि अनेक कारीगर निर्माण कार्य में लगे थे। कुषाणों ने नये प्रकार के स्तम्भों का निर्माण किया जिन्हें बनाने के लिए अवश्य ही मिस्त्रियों की जरूरत पड़ी होगी।[1] अतः स्पष्ठ है कि निर्माण कार्य से बहुत से लोगों की जीविका चलती रही होगी।

चर्म-उद्योगः

चमड़े का उद्योग भी इस युग में विकसित अवस्था में दिखाई पड़ता है। इस काल से चमड़े से चावुक बदिदयां, जूते, आवरण एवं तलवार की म्यान आदि का निर्माण किया जाता था। पतंजलि ने चर्मकार के द्वारा पैर की नाप लेकर जूते बनाने का उल्लेख किया है और पूर्णतया चमड़े से बनने वाले जूते को अर्वचर्मीण कहा है। कुछ जूतों की तल्ली में लकड़ी आदि लगाने का उल्लेख मिलता है।[2] गांधार

---

1. जोशी-लाइफइन उत्तरापथ अध्याय-11.
2. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, पंतजलि कालीन भारत" पृ0 311

की मूर्तियों में बुद्ध को चप्पल पहने दिखाया गया है। वानप्रस्थी एवं संन्यासी, मृग तथा अन्य पशुओं की खाल पहनते थे। अश्वालयनपर्व में युद्धिष्ठिर द्वारा रेशमी-वस्त्र एवं काले मृग का चर्म धारण करने का उल्लेख है।[1] रथ में सारथी के बैठने के स्थान को चर्म से मढ़ा जाता था।[2] धर्मशास्त्रकारों ने आपत्तिकाल में भी ब्राहमण एवं क्षत्रिय के लिए चमड़े के विक्रय द्वारा जीवन-निर्वाह का निषेध किया है।[3]

शीशा:- मार्शल के अनुसार कम से कम प्रथम शदी के अन्त तक भारतीय कारीगरों ने शीशे को पिघलाकर वस्तुएं बनाने की तकनीक सीखली थी।[4] सुश्रुतसंहिता[5] तथा महाकाव्यो में कांच एवं उनसे निर्मित वस्तुओं के विवरण मिलते हैं। रामायण में शीशे के कारीगर को कांचकार कहा गया है। राज प्रसाद का निर्माण कराया था।[6] प्लिनी ने भारत के शीशे को अन्य देशों के अपेक्षा उत्तम कोटि का बताया है।[7] सिरकप में इस काल के शीशे की रंगीन चूड़ियां बोतले एवं मनके आदि मिले है।[8]

---

1 अश्वालायन पर्व पृ0 73/5.

2 अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, पतंजलि कालीन भारत'' पृ0 321.

3 मनु0 10/89, याज्ञवल्क्य 3/36-38

4. मार्शल तक्षशिला भाग-2 पृ0 685

5 सुश्रुत-सेहिता अध्याय 4, 6

6 आदिपर्व 1/42

7. प्लिनी 37/77/78

8 अढ़्या, जी0एल0; 'अर्ली इण्डियन इकोनामिक्स' पृ0 सं0 77

इस काल के अन्य व्यवसायों में तैलिक[1], जल्लाद[2] (घातापेय), ज्योतिषी (पाटक), यंत्रकार (यंत्र बनाने वाले) सुरानिर्माता (शौडिक, सीधुकारक), स्थपति (वास्तुकार) लेवक (पुताई, पलस्तर) आदि करने वाला) प्रस्तारिक (पत्थर का कारीगर), चित्रकार, सपेरे, मछुआरे, टोकरी बनाने वाला, चटाइयां बनाने का काम करने वाला आदि का उल्लेख मिलता है।

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि द्वितीय शताब्दी शताब्दी ईसापूर्व से द्वितीय शताब्दी ईसवीं के बीच उत्तर-भारत में शिल्प और उद्योग धन्धों का बड़े पैमाने पर विकास हो गया था। कि विवेच्य काल में लोगों के जीविका साधन तो था ही, साथ-ही-साथ देश को समृद्ध बनाने में इसका बहुत बड़ा योगदान था।

---

1 मनु0 10/92 याज्ञवल्क्य- 3/42

2 मनु0 7/138

चतुर्थ-अध्याय

श्रेणी-व्यवस्था

"श्रेणी संगठन"

प्रानीच काल में व्यवसायियों और शिल्पकारों ने अपने-अपने व्यवसाय और शिल्प को एक निश्चित दिशा में विकसित और सुसंगठित किया तथा उनकी सुरक्षा और उन्नति के लिए अपने-अपने संगठन बनाए। ऐसे व्यापारिक समूह को श्रेणी, निगम, या निकाय कहा जाता था। भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ भिन्न-भिन्न व्यापारिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती थी। भारत में आर्थिक जीवन को सम्मुन्नत, प्रवर्धित और सुसम्पन्न करने में श्रेणी संस्था का अद्वितीय स्थान रहा है। यही नहीं इस संस्था का समाज के सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य रहा है। स्वतंत्र और क्रियाशील संस्था के रूप में इसने समाज और देश को समय-समय पर गतिशीलता और प्रेरणा प्रदान की, जिससे राष्ट्र का भौतिक और अध्यात्मिक उत्थान हुआ।

प्राचीन साहित्य में 'श्रेणी' के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग होता था। यथा-कुल, पूग, निकाय, जाति, ब्रात, संघ, समूह, सम्भूयसमुत्थान, परिषत, वर्ग, सार्थ और निगम आदि।' जब उद्योगों और व्यापार में लगे व्यक्ति संगठित होकर अपने हितों की रक्षा के लिए एक संस्था बनाते हैं, तो श्रेणी या निगम की उत्पत्ति होती है। उद्योगों और व्यापार की उन्नति के साथ ही साथ नगरीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इसलिए श्रेणियों का प्रादुर्भाव नगरीकरण प्रक्रिया से जुड़ा है।

भारत में श्रेणी संगठनों की उत्पत्ति एवं प्राचीनता के सम्बन्ध में विद्वानों में भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किया है। भारत में प्रागैतिहासिक काल में

सबसे पहले नगरों का अस्तित्व सैन्धव संस्कृति से सम्बद्ध है। इस सभ्यता के उत्खनित स्थलों से अनेक मुहरें मिली हैं, जो सम्भवतः व्यापार के काम में लाई जाती थीं। इन मुहरों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मोहन जोदड़ों, हड़प्पा और लोथल आदि के वे निवासी जो उद्योग या व्यापार में लगे थे, संगठित थे। लोथल में ऐसे अनेक परिवारों के निवास स्थानों के अवशेष मिले हैं जो तांबे की वस्तुएं और मनके बनाते थे। इस प्रकार इस संस्कृति में हाथी दाँत की वस्तुएं बनाने, सूत कातने, कपड़ा बुनने, ईट पकाने वालों और लुहारों आदि के कुछ संगठन अवश्य रहे होंगे। अतः इन संघठनों को हम श्रेणियों का पूर्व रूप कह सकते है।

वैदिक कालीन साहित्य में श्रेणी संगठन के बारे में पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि "वह हंसों के समूह में कार्य करती थी।[1] वस्तुतः श्रेणी संस्था का समस्त आर्थिक कार्य उनके समूह के माध्यम से होता था। 'पणि' जैसे व्यापारियों का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है, जो सुरक्षा को ध्यान में रखकर समूह में व्यापार के लिए जाते थे। 'श्रेष्ठि' और 'गण' जैसे शब्दों का उल्लेख भी वैदिक ग्रंथों में मिलता है। जो क्रमशः श्रेणी के मुखिया और नैगम संगठन की ओर इंगित करते हैं। मैकडानेल और कीथ,[2] राधाकुमुद मुखर्जी, एवं एस0पी0 नियोगी आदि ने उत्तर-वैदिक ग्रंथों में उल्लिखित श्रेष्ठिन[3] एवं श्रेष्ठिय[4] का अर्थ वणिजों का संगठन या श्रेणी का प्रधान लगाया है। डॉ0 रमेश चन्द्र मजूमदार का विचार है कि भारत में आर्थिक जीवन में संगठन की प्रवृत्ति

---

1 ऋग्वेद 1. 163.10 "हंसा इव श्रेणिशों यतन्ते"।

2. हरिपाद चक्रवर्ती, 'ट्रेड एण्ड कामर्स', पृ0 316

3. ऐतरेय ब्राहमण, 3/30/3 कौशीतकि ब्राहमण, 28/6, कौशीतकि उपनिषद, 4/20।

4 ऐतरेय ब्राहमण, 4/25/8-9 एवं 7/18/8,।

उत्तर-वैदिक काल तक स्पष्ट हो गयी थी और बृहदारण्यक उपनिषद के काल (ईसा पूर्व लगभग 600) में शिल्पियों एवं व्यापारियों के संघ विद्यमान थे।[1] आर0सी0 मजूमदार ने बृहदारण्यक उपनिषद (1/8/12) में उल्लिखित 'गणश' शब्द का अर्थ शंकर के भाष्य के आधार पर किसी एक शिल्प या व्यवसाय में लगे वैश्यों के गण (संघ) का प्रमुख लगाया है।[2] शंकर ने अपने टीका में उल्लेख किया है कि ब्राहमण एवं क्षत्रियों के सृजन करने से ब्रहमा संतुष्ट नहीं हुए, क्येंकि वे धनार्जन नहीं करते थे। इसीलिए ब्रहमा ने वैश्यों की सृष्टि की जो आपसी सहयोग तथा सहकारिता के आधार पर धनार्जन करते थे। यजुर्वेद में आये 'गणपति' शब्द को रमेश चन्द्र मजूमदार ने 'गणश' का समानार्थी माना है।

परन्तु इन उल्लेखों को उपयुक्त नहीं माना जा सकता। ऋग्वेद में उल्लिखित श्रेणी शब्द कतार पंक्तिबद्ध होकर अथवा समूह में चलने वाले पक्षियों, अश्वों तथा रथों आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'पणि' साहसिक व्यापारी अवश्य थे, और व्यापार वाणिज्य अथवा अन्य उद्देश्यों से समूहबद्ध होकर मात्राएं करते थे। किन्तु वे सार्थ जैसे किसी संगठन में संगठित नहीं थे। 'श्रेष्ठिन' शब्द वैदिक साहित्य में सभ्रान्त व्यक्ति, महाजन अथवा धनी के लिए प्रयुक्त हुआ है। सायण ने ऐतरेय ब्राहमण (3/30/3) में उल्लिखित 'श्रेष्ठिन' शब्द का अर्थ 'धनपति' बताया है।[3] वैदिक साहित्य में 'गण', पूग, ब्रात शब्द वास्तव में समूह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किसी सन्दर्भ में वे व्यवसायिक या व्यापारिक संगठन के द्योतक प्रतीत नहीं होते। रही बात 'गणपति' और-गणशः'

---

1 स' नैव व्यभव स विशमसृजत: यान्तानि देव जातानि गणशा। आख्यायते।'

2 आर0सी0 मजूमदार, ''कारपोरेट लाइफ इन ऐशिएन्ट इण्डिया'' पृ0 12-13 ।

3 बलराम श्रीवास्तव, 'ट्रेड एण्ड कामर्स', पृ0 208 पर उद्धत।

की तो इन्हें लोगों के समूह का प्रमुख तो माना जा सकता है लेकिन श्रेणी जैसी किसी आर्थिक संस्था का प्रधान नहीं। स्रोत ग्रंथों से निम्न श्रेणी संगठनों के बारे में सूचना मिलती है।

प्रमुख शिल्प संगठन :-

1. **श्रेणी:-** श्रेणी शब्द के बारे में सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। जहाँ पर कहा गया है कि वह हंसों की तरह समूह में कार्य करती थी।[1] वैदिक साहित्य में किसी भी सन्दर्भ में यह व्यवसायिक व्यापारिक संगठन का द्योतक नहीं है। पाणिनि के अष्टाध्यायी में श्रेणी आयुधजीवी जातियों के लोगों के संघ के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] अष्टाध्यायी के टीकाकार कैय्यट ने श्रेणी को एक शिल्प या एक ही वस्तु के व्यापार द्वारा जीवन यापन करने वालों का संगठन माना है।[3] पतंजलि के महाभाष्य (2/1/58) की प्रदीप टीका में श्रेणी को इसी अर्थ में उल्लिखित किया गया है। कौटिल्य ने शिल्पकारों के समूह को श्रेणी कहा है।[4] कौटिल्य ने कृषि व्यापार और सैन्य कार्य करने वाले लोगों की सहकारी संस्था को श्रेणी कहा है।

मनु पर भाष्य करते हुए मेघातिथि का कथन है कि वेदज्ञ ब्राह्मण, वणिक, शिल्पकार आदि के संघ ही श्रेणी है।[5] महाभारत में (3/248/16) में श्रेणी को वणिकों का संगठन कहा गया है। नारद के अनुसार व्यवसायियों की

---

1. ऋग्वेद 1.663.10।
2 वी0एस0 अग्रवाल, 'इण्डिया ऐज नोने टु पाणिनि' पृ0 436-37।
3 एकेन शिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहा: श्रेणी।-लोकल गवर्नमेंट, पृ0 32-33 पर उद्धत।
4. अर्थशास्त्र,- 5.2 'एकेनशिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहः श्रेणी।'
5 मेघातिथि मनु 8.41, 'एक कार्यापन्ना वणिक कुरूकुसीदचातुर्विद्यादय: ।

सहकारी संस्था श्रेणी थी।[1] महाभारत के वनपर्व में श्रेणी का प्रयोग व्यापारियों के संगठन के अर्थ में किया गया है। इस प्रकार हम कह सकते है कि नाना जाति के लोग भिन्न-2 शिल्पों से सम्बन्धित थे।

2. पूगः- 'पूग' का आर्थिक संगठन के अर्थ में प्राचीनतम उल्लेख सम्भवतः अंगुत्तर निकाय, विनयपिट्क तथा अष्टाध्यायी में मिलता है।[2] पणिनि के अष्टाध्यायी की कशिका टीका में पूग की व्याख्या धनोपार्जन के लिए कोई एक निश्चित व्यवसाय न करने वाले विभिन्न जाति के संघ के रूप में की गयी थी। कौटिल्य[3] और याज्ञवल्क्य[4] ने भी इसका प्रयोग व्यवसायिक संगठन के लिए किया है। गुप्तकालीन स्मृतिकारों ने 'पूग' को शिल्पियों, वणिजों एवं व्यापारियों का संगठन बताया है विज्ञानेश्वर (याज्ञवल्कय 2/30) के अनुसार पूग विभिन्न व्यवसाय करने वाले किन्तु एक ही ग्राम अथवा नगर में रहने वाले भिन्न-भिन्न जाति के लोगों का संगठन था। विश्वरूप द्वारा प्रस्तुत व्याख्या पूर्वमध्य और मध्ययुगीन भाष्यकारों से भिन्न है। उन्होंने इसे ब्राहमण आदि जातियों का संगठन बताया है।

3. नैगमः- 'नैगम' शब्द का व्यवसायिक संगठन के लिए सम्भवतः सबसे पहले प्रयोग मौर्योत्तर काल के साक्ष्यों में हुआ है। नासिक के गुहालेख में इसे श्रेणी से सम्बन्धित बताया गया है। 'रामायण' में नैगम शब्द का प्रयोग

---

1 नारद 1.7

2. आर0सी0 मजूमदार, 'कारपोरेट लाइफ इन ऐशियन्ट इण्डिया' पृ0 129।

3. अर्थशास्त्र 1/13

4. याज्ञवल्क्य, 2/30

व्यापारियों तथा शिल्पियों के संघ के लिये मिलता है।[1] महाभारत में नैगम शब्द का प्रयोग वणिकों के संगठन के लिए मिलता है।[2] कात्यायन ने इसे एक ही नगर में निवास करने वालों का समूह बताया है। लेकिन गुप्तकालीन अन्य साक्ष्यों में 'नैगम' वणिज एवं व्यापारी के अर्थ में आया है। रामायण में नैगममुखों तथा नैगमवृद्धों का उल्लेख मिलता है।

4. सार्थः— काफिलों में संगठित होकर व्यापार के लिए देश विदेश की यात्राएं करने वाले वाणिजों के संगठन को सार्थ कहा जाता था इनका नेता सार्थवाह, जेट्टक आदि कहा जाता था। असुरक्षित एवं दुर्गम मार्गो में व्यापारी तथा अन्य लोग बहुत प्राचीन काल से ही समूहबद्ध होकर यात्रा करते थे बौद्ध युग के पूर्व सार्थो के अस्तित्व के विषय में सूचना नहीं मिलती। सर्वप्रथम जातक कथाओं में व्यापारियों द्वारा सहयोग और सहकारिता के आधार पर व्यापार के लिए समूहबद्ध होकर यात्रा करने, भाड़े पर जहाज लेने, तथा व्यापारिक माण्ड खरीदने के विवरण मिलते हैं। बुद्धिमान, साहसिक, व्यापार एवं यात्रा का अनुभव रखने वाले सच्चरित और कुशल संगठनकर्त्ता को ही व्यापारियों के सार्थ का नेता बनाया जाता था। व्यापार के लिए यात्रा करने से पूर्व सार्थवाह घोषणा करता था कि उसका काफिला व्यापार के लिए अमुक दिन तथा अमुक स्थान को जायगा। सार्थ में शामिल होने वाले व्यापारियों के जान-माल, सुख-सुविधा आदि की समुचित व्यवस्था की जायगी।

---

1 अयोध्या काण्ड 14/40,52

2. हरिपाद चक्रवर्ती-"ट्रेड एण्ड कामर्स पृ0-212 पर उद्धत

5. गण:- पाणिनि के अष्टाध्यायी तथा बौद्ध साहित्य में 'गण' शब्द का उल्लेख मिलता है। पाणिनि ने 'गण' का प्रयोग संघ के अर्थ में किया है।[1] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'गण' शिल्पियों के संगठन के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] विष्णु,[3] बृहस्पति तथा नारद के उल्लेखों में भी 'गण' शब्द आर्थिक संगठन के लिए आया है परन्तु कात्यायन ने 'गण' को ब्राहमणों का समूह बताया है।

जहाँ तक आर्थिक संगठन का प्रश्न है 'गण' कभी भी बहुप्रचलित नहीं रहा है और अधिकांश साक्ष्यों में यह राजनैतिक संघ अथवा अन्य प्रकार के संगठन का द्योतक है। व्यवसायिक संगठन के अर्थ में यह शब्द गुप्तकाल में अपेक्षाकृत अधिक प्रचलन में रहा है।

अत: इन उल्लेखों के आधार पर हम कह सकते है कि वैदिक काल की अर्थव्यवस्था मुख्यत: पशुचारण पर आधारित थी और कृषि एवं हस्तशिल्पों का सीमित विकास हो गया था। ऋग्वैदिक आर्यो का राजनैतिक संगठन भी कबीलियायी था। उत्तर-वैदिक काल में नि:सन्दहे कृषि, शिल्पों एवं उद्योगों में पर्याप्त प्रगति हुई थी परन्तु व्यापार वाणिज्य के क्षेत्र में समुचित विकास नहीं हो पाया था। असुरक्षा और आपसी सहयोग की आवश्यकता आदि कारणों से कुछ लोग मिलजुल कर व्यवसाय करते थे, तथा दूरस्थ स्थानों की यात्राएं समूह बनाकर करते थे। उत्तर-वैदिक साहित्य में शिल्पों की लम्बी सूची मिलने तथा वस्त्र एवं धातु उद्योग में विशिष्टीकरण होने के बावजूद किसी भी शिल्प अथवा व्यवसाय के संगठित होने के साक्ष्य अनुपलब्ध हैं।

---

1 वी0एस0 अग्रवाल, 'इण्डिया एज नोन टु पाणिनि' लखनऊ 1953 पृ0 426-27

2 अर्थशास्त्र, 2/6

3 विष्णु, 5/168

वेदोत्तर कालीन साक्ष्य पाणिनि के अष्टाध्यायी, धर्मसूत्रों, जातक कथाओं, में आर्थिक संगठनों एवं उनके प्रमुखों के विवरण मिलते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल के अन्तिम समय (ईसा पूर्व 600) में श्रेणी संगठनों का प्रारम्भिक स्वरूप अस्तित्व में आ चुका था।

समाज में धीरे-2 विभिन्न व्यवसायियों और शिल्पियों का विकास होने लगा। फलतः उनके अलग-अलग स्वतंत्र संगठन बनने लगे, जो उनके सामूहिक हित के साथ-साथ व्यक्तिगत हित की भी देख-रेख करते थे। नागरिक जीवन के विकास के साथ-साथ व्यवसायी और शिल्पी भी ग्राम से नगर की ओर आये तथा अपनी सुविधा को ध्यान में रखकर उन्होंने अपने-अपने व्यवसायों और शिल्पों का गठन किया। इस प्रकार समाज में विभिन्न व्यवसाय और शिल्प से सम्बन्धित विभिन्न संगठित समूहो बन गये, जिनका सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन के निर्माण में अभूतपूर्व योगदान था।

जातकों तथा अन्य साहित्यिक ग्रंथों में अनेकानेक वृत्तियों को अपनाने वाले श्रेणियों का विवरण है। जो अट्ठारह या उससे अधिक मानी जाती है। श्रीमती राइज डेविड्स ने भृगुपक्ख जातक के आधार पर निम्न अट्ठारह प्रकार की श्रेणियों का उल्लेख किया है।[1]

1. लकड़ी का काम करने वालों की श्रेणियां
2. पत्थर का काम करने वालों की श्रेणियां
3. धातुओं का काम करने वालों की श्रेणियां

---

1. जातक VI पृ0 427,9 टी0डब्लू राइज डेविड्स बुद्धिष्ट इण्डिया पृ0 90-97

4. बुनकरों (जुलाहों) की श्रेणियां

5. चमड़े का काम करने वालों की श्रेणियां

6. **कुम्हारों की श्रेणियां:-** इनके सदस्य अनेक प्रकार के प्याले रबाबी बनाते थे, जो घरों में प्रयुक्त होते थे। कभी-कभी ये अपना समान फेरी लगाकर बेचते थे।

7. हाथी के दांत का काम करने वालों की श्रेणियां

8. रंगरेज की श्रेणियां

9. स्वर्णकार की श्रेणियां

10. मछुआरों की श्रेणियां

11. कसाई की श्रेणियां

12. शिकारी तथा पशु पकड़ने वालों की श्रेणियां

13. रसोइयें तथा हलवाइयों की श्रेणियां

14. नाईयों की श्रेणियां

15. माला बनाने वालों तथा फूल बेंचने वालों की श्रेणियां

16. नाविकों की श्रेणियां

17. बसकट, बेंत का काम करने वालों की श्रेणियां

18. चित्रकार, जो मुख्यत: घर को रंगने वाले होते थे की श्रेणियां।

रमेश चन्द मजूमदार ने गौतम धर्मसूत्र, जातक, नासिक अभिलेख और जुन्नर अभिलेख के आधार पर निम्नलिखित सत्ताइस प्रकार की श्रेणियों का उल्लेख किया है।[1]

1. लकड़ी का काम करने वाले बढ़ई
2. सोना चाँदी आदि घातुओं का काम करने वाले
3. पत्थर का काम करने वाले
4. चर्मकार
5. दन्तकार
6. ओदयांत्रिक (पनचक्की चलाने वाले)[2]
7. बसकट (बॉस का काम करने वाले)[3]
8. कसकर (ठठेरे)
9. रत्नकार जौहरी
10. बुनकर या जुलाहे[4]
11. कुम्हार
12. तिलपिसक (तेली)
13. फूस काम करने वाले और डलिया बनाने वाले)
14. रंगरेज
15. चित्रकार[5]
16. धान्य के व्यापारी
17. कृषक
18. मछुए

---

1 आर0सी0 मजूमदार, 'प्राचीन भारत में संघटित जीवन' अनुवाद के0डी0 वाजपेई पृ0 19-20

2. नासिक अभिलेख लूडर्स सं0 1137 ।

3 जुन्नर अभि0 लूडर्स सं0 1165 ।

4 नासिक अभि0 लूडर्स सं0 1133 ।

5 वही पृ0 सं0 427 ।

19. कसाई

20. नाई तथा मालिश करने वाले

21. मालाकार (माली)

22. नाविक

23. चरवाहे

24. सार्थ सहित व्यापारी

25. डाकू तथा लुटेरे

26. वन–आरक्षी

27. महाजन

स्पष्टतया इनमें से 18 श्रेणियां वही है जिनका उल्लेख राइज डेविड्स ने किया है। शेष नौ श्रेणियां अभिलेखीय साक्ष्यों एवं धर्मसूत्रों से प्राप्त हुई हैं। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में निम्नलिखित प्रकार के शिल्पी का उल्लेख किया है। 1. कुलाल[1] (कुंम्भकार), 2. तक्षा[2] (बड़ई), 3. धनुषकार,[3] 4. रज्जक[4] (जो कपड़े रंगते थे), 5. सनक,[5] 6. तंन्तुवाय,[6] (जुलाहे) 7. कम्बलकारक[7] (कम्बल बनाने वाले), 8. चमड़े का कार्य करने वाले,[8] 9. कर्मदार,[9] 10. सुर्वणकार,[10] 11. बोझ उतारने वाले।[11]

---

1 अष्टाध्यायी, पाणिनि IV,3, 118
2 वही0 V 4, 95
3. वही0 III 2. 21
4 वही0 III 1. 145
5 वही0 III 1. 145
6 वही0 VI 2. 76
7. वही0 IV 2. 11
8 वही0 V 1. 15
9. वही0 VII 3.47
10 वही0 IV 3.65
11 वही0 III 4.42

प्राचीन अभिलेखों में श्रेणियों का उल्लेख मिलता है, जो निम्न हैं :- 1. फूल बनाने वाले,[1] 2. बुनकर जुलाहे[2] (कोलीक निकाय) 3. हाथी दांत का काम करने वाले,[3] 4. रंगरेज,[4] 5. कुम्हार,[5] 6. तिलपिसक,[6] 7. अनाज के व्यापारी,[7] 8. चमड़े का काम करने वाले,[8] 9. बॉसकार[9] (बॉस का काम करने वाले), 10. कसकार[10] (ठठेरे)।

बौद्ध ग्रंथ महावस्तु[11] में 26 प्रकार के श्रेणियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विवेच्यकाल अर्थात (द्वितीय शताब्दी ईसा पू0 से द्वितीय शताब्दी ईसवी) तक पूरे देश में अनेकानेक श्रेणी संगठनों का विकास हो चुका था। इस काल में शिल्पों और उद्योगों के साथ-साथ व्यापार और वाणिज्य में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई और व्यवसायिक संगठनों का विकास हुआ। उनके कार्यो और दायित्वों एवं अधिकारों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। मौर्ययुग में इन श्रेणी संगठनों पर राज्य ने जो प्रतिबन्ध लगाये थे वे विवेच्य काल में समाप्त हो गये। और श्रेणियों के नियमों, रीतिरिवाजों एवं उसके हितों की रक्षा को राजा के कर्त्तव्यों में शामिल कर दिया गया था। विवेच्य काल के स्मृतिकारों ने मुखर होकर श्रेणी संगठनों पक्ष लिया।

---

1. मथुरा अभिलेख डी0सी0 सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिपसन्स खण्ड-1 पृ0 151
2 नासिक अभिलेख वही0 पृ0 164
3. जुन्नर अभिलेख लूडर्स संख्या 1133
4 वही0 लूडर्स संख्या 1137
5 नासिक अभिलेख, ऐपिग्राफिका इंण्डिका, 8, पृ0 88
6 नासिक अभि0 300 ई0
7 जुन्नर अलिलेख लूडर्स सं0 1180
8 वही0 सं0 1164
9 वही0 सं0 1165
10 वही0 सं0 1165
11 महावस्तु, भाग-3 पृ0 113 तथा 442-43

विवेच्य काल में श्रेणी संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इस युग में श्रेणी संगठनों ने अपने रीति-रिवाजों एवं नियमों आदि को व्यवस्थित तथा निश्चित करके उन्हें एक संविधान का रूप दिया। जिसे राज्य ने भी मान्यता प्रदान की। गौतम के मत में संशोधन करते हुए मनु ने राजा को श्रेणी धर्म श्रेणी के रीति-रिवाज एवं नियम-कानून बनाने की सलाह दी।[1] याज्ञवल्क्य ने श्रेणी के नियमों को राज्य के कानूनों के समान मान्य एवं पालनीय बताया है।[2] विष्णु का विचार है कि राजा श्रेणी के नियमों का उसके सदस्यों तथा अन्य लोगों द्वारा अनुपालन सुनिश्चित करें।[3] महाभारत के अनुसार श्रेणी धर्म का उल्लंघन पाप कर्म है जिसके लिए कोई प्रायश्चित नहीं है।[4] विष्णु का विचार है कि यदि कोई गण की सम्पत्ति का हरण कर ले या गबन कर ले तो उसको निष्कासन का दण्ड मिलना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने निष्कासन के साथ-साथ उसकी सम्पत्ति जब्त कर लेने का विधान किया है।[5] महावस्तु में श्रेणियों की संख्या 18 बताई गयी है।[6] यह संख्या किन्ही करणों से जातकों के समय से ही पारम्परिक बन गयी थी। महावस्तु में शिल्पों तथा व्यवसायों की दो सूची मिलती है दोनों को मिलाकर 80 से भी अधिक शिल्पों की सूचना मिलती है इस प्रकार विवेच्य काल में महत्वपूर्ण व्यवसायों की संख्या 18 से अधिक थी और इनमें से अधिकांश श्रेणियों में संगठित रहे होंगे। व्यवासायिक लाभ अथवा किसी उद्देश्य के लिए श्रेणियों को स्थानान्तरण करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी।

---

1 मनु0 8/41

2. याज्ञवल्क्य, 2/186 तथा 192

3 विष्णु, 5/68

4 दृश्टव्य लोकल गवर्नमेन्ट पृ0127 उद्धत श्याम मनोहर मिश्रा 'प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन' पृ0226

5 याज्ञ0, 2/187

6 महावस्तु 3, पृ0 114

विवेच्य काल में श्रेणी के विविध कार्यो के सुचरु एवं कुशल संचालन को सुनिश्चित करने के लिए तथा श्रेणी प्रमुख को सहयोग देने के लिए कार्य चिन्तकों की समिति के गठन का प्रावधान किया गया था। याज्ञवल्क्य ने कार्य चिन्तकों (श्रेणी की कार्य समिति के सदस्यों) की योग्यताओं, कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य ने धर्मज्ञ, पवित्र आचरण वाले तथा लोभरहित व्यक्तियों को कार्यचिन्तक नियुक्त करने का प्रावधान किया है। श्रेणी के सदस्यों को संगठन के सामूहिक हित की बात करने वाले इन कार्य-चिन्तकों की बातों का अनुपालन करना चाहिए।[1] तथा श्रेणी के सामूहिक हित के विपरीत बोलने वाले को प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिए।[2] सामूहिक कार्य के लिए भेजे गये श्रेणी के सदस्य द्वारा प्राप्त धनादि संगठन को न देने या स्वयं ले लेने पर उस धनराशि से चार गुनी उससे दण्ड स्वरूप वसूल किये जाने का प्रावधान किया गया था। याज्ञवल्क्य ने राजा को यह निर्देश दिया है कि वह संगठन के सामूहिक हित के कार्य के लिए आने वाले प्रतिनिधियोंको दान, मान एवं सत्कार से संतुष्ट करें।[3]

महावस्तु के कई सन्दर्भो में राजाओं के दरबार में श्रेणी प्रमुखों की उपस्थिति का उल्लेख मिलता है। रामायण में राम के दरबार में नैगमवृद्धों की उपस्थिति का विवरण है।[4] रामायण में एक स्थल पर सीता राम से पूछतीं हैं कि आपके राज्याभिषेक के समारोह में श्रेणीप्रमुख क्यों नहीं दिखाई पड़ते।[5] राम जब वनवास से अयोध्या लौटते हैं तो उनके स्वागत के लिए अन्य लोगों के साथ

---

1. याज्ञवल्क्य 2/191
2 वही0, 2/188
3 वही0, 2/89 तुलनीय मनु0 8/219-20 ।
4. रामाणय, 7/77/2
5. वही0 2/26/14

श्रेणियों के प्रमुख तथा नौगमों के प्रमुख विद्यमान थे। महाभारत में राजा को सलाह दी गयी है कि उसे शत्रु पर आक्रमण करने से पूर्व गुप्तचरों के माध्यम से श्रेणी प्रमुखों से भी विचार विमर्श करना चाहिए,[1] और न श्रेणी प्रमुखों को लड़ने दे ओर न ही एकजुट होने दे।[2] मिलिन्दपञ्हो में व्यापारियों के श्रेणी प्रमुख का उल्लेख है। विवेच्य काल के प्रारम्भिक भाग के श्रेणी संगठनों के कुछ सिक्के तक्षशिला तथा कुछ कौशाम्बी से प्राप्त हुए हैं।[3] कौशाम्बी से मिले ताँबे के सिक्कों पर 'गन्धिकनम् (गंधिकानां) लेख लिखा है। यह सम्भवत: गंधिकों की श्रेणी द्वारा जारी किये गये थे।[4] तक्षशिला तथा कौशाम्बी दोनों स्थानों से प्राप्त सिक्कों की तिथि द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व निर्धारित की गयी है। यही नही इस काल के श्रेणी संगठनों की मुद्राए तथा मुद्रा छापे भी प्राप्त हुए हैं।

श्रेणी संगठन अपने विविध कार्य पूरी ईमानदारी, निष्ठा एवं कुशलता से करते थे। प्रजा तथा राजा दोनों के बीच उनकी साख प्रतिष्ठित थी। लोग विभिन्न कार्यो के लिए उनके पास धन आदि जमा कर कार्य विशेष सम्पन्न करने के लिए निर्देश दे देते थे। श्रेणियां अपनेपास धन का या तो व्याज देती थी या व्याज की धनराशि से उस कार्य को सम्पन्न कराती थीं जिसके लिए धन जमा किया जाता था। अत: हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि विवेच्य काल में श्रेणियों ने बैंकों के रूप में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। इसको हम भारत में बैंकिंग प्रणाली का प्रारम्भिक रूप से कह सकते हैं। दैवी विपत्ति अथवा राजा द्वारा श्रेणी संगठन के पास जमा की गयी धनसम्पत्ति नष्ट किये जाने

---

1 महाभारत; 12/59/141

2 वही0 12/140/64

3. कनिंघम; 'क्वायंस ऑफएशियंट इण्डिया' पृ0 सं0 63; मार्शल तक्षशिला, भाग 1 पृ0 सं0 26-27

4 वही0 25 पृ0 सं0 19

पर या चोरी हो जाने पर संगठन जमाकर्त्ता को उसकी अदायगी, क्षतिपूर्ति के लिए उत्तरदायी नहीं माना जाता था। विवेच्य कालावधि में शासन करने वाले सातवाहन-शक-कुषाण राजवंशों के शासकों ने आन्तरिक एवं विदेशी वाणिज्य-व्यापार को पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया था और बड़ी संख्या में सिक्के जारी किये थे। सिक्कों के व्यापक प्रयोग ने बैंकिंग व्यवस्था के उदय एवं विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

हुविष्क के राज्यकाल के शक संवत् के वर्ष 28 (106 ई0) के मथुरा अभिलेख में उल्लिखित है कि 'प्राचीनीकन' नामक एक अधिकारी ने एक पुण्यशाला तथा 1100 पुराण (चाँदी के कर्षापण सिक्के) दो श्रेणियों के पास 'अक्षयनीवी' के रूप में जमा किये थे। इनमें से 550 पुराण समितिकारों (आटा पीसने वालों) की श्रेणी के पास जमा किये थे और शेष 550 एक अन्य श्रेणी के पास जिसका नाम अभिलेख में सुरक्षित नहीं बचा है। जमाकर्ता ने समितकार श्रेणी को निर्देश दिया था कि वह जमा धनराशि के व्याज से महीने में एक बार सौ ब्राहमणों को भोजन कराए। इसके अतिरिक्त तीन आढ़क पिसे सत्तू एक प्रस्थ नमक, एक प्रस्थ शुक्त (अचार आदि?) तथा तीन घड़े पानी (निर्धन और भूखे) लोगों को उपलब्ध कराए।[1] शक शासक नहपान के शासन काल के शक संवत् के वर्ष 41, 42 एवं 45 के नासिक गुफालेख में उसके दामाद उषवदात (ऋषभदत्त) के द्वारा उक्त गुफा में रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं को वस्त्र (चीवर) तथा चिकित्सा की व्यवस्था के लिए कुल 3000 कर्षापण अक्षयनीवी के रूप में वहाँ कार्यरत श्रेणियों के पास जमा करने का उल्लेख है। इनमें से 200 कर्षापण

---

1 सरकार, डी0सी0; 'सेलेक्ट इन्सक्रिप्संश; 1, पृ0-146-47

गोवर्धन (नासिक के निकट) के कुलकरों (बुनकरों) की एक श्रेणी के पास 12 प्रतिशत प्रतिवर्ष व्याज की दर और कुलकरों की ही दूसरी श्रेणी के पास 1000 कर्षापण 9 प्रतिशत वार्षिक व्याज की दर पर जमा किये गये थे।[1] जुन्नर से प्राप्त एक अभिलेख में बॉस का काम करने वाले कारीगरों की श्रेणी एवं ठठेरों के पास धन जमा किये जाने का विवरण है। और दूसरे अभिलेख में एक अन्य श्रेणी को केले तथा करंज के पेड़ लगाने के लिए दो खेतों की आय दिये जाने का उल्लेख है। इसी अभिलेख में सात कक्षों वाली गुफा तथा वापी को दान में दिये जाने का विवरण है।

श्रेणियां अपने पास जमा किये गयेधन पर ब्याज देती थीं ऐसा प्रतीत होता है कि इस जमा धन को श्रेणियां व्यापारियों या अन्य लोगों को व्याज पर देकर अधिक धन कमाती रही होंगी। बैंकों के रूप में कार्य करने वाली श्रेणियों की सत्ता के साक्ष्य हमें केवल महाराष्ट्र राज्य के नासिक एवं जुन्नर क्षेत्रों के अभिलेखों में ही मिलते है।

उपर्युक्त स्थानों की श्रेणियां ही उद्योग, वाणिज्य-व्यापार की उन्नति में अधिक प्रभावी भूमिका अदा कर रही थी ऐसा नहीं कहा जा सकता। देश के अन्य भागों में न्यूनाधिक रूप से इस प्रकार का कार्य करने वाली श्रेणियां अवश्य रही होगी। अपने कार्य-स्थल को बदलने से पूर्व उन्हें किसी भी व्यक्ति या संस्था से किये गये वादे को पूरा करना पड़ता था। कभी-कभी श्रेणी को अपने क्षेत्र की जानी मानी व्यापारिक श्रेणी के पास

---

1 वही0 पृ0 157-60

रजिस्ट्रीकरण कराना पड़ता था।[1] नासिक गुहा लेख से पता चलता है कि बुनकरों की एक श्रेणी ने वहाँ की निगम सभा में अपना रजिस्ट्रीकरण कराया था।[2] परन्तु यह सुझाव मान्य नहीं है। यहाँ निगम का अर्थ था नगर अथवा व्यापारियों का संगठन है।[3] व्यापारियों की श्रेणियां दस्तकारों की श्रेणियों से प्राय: अधिक महत्वपूर्ण एवं साधन सम्पन्न होती थी और वे नगर या इसके बर्हिभाग में रहने वाले शिल्पियों पर सम्भवत: एक सामान्य नियंत्रण रखती थी। अधीक साधन सम्पन्न होने के कारण ही व्यापारिक ही व्यापारिक श्रेणियों का स्थान शिल्पियों की श्रेणियों से उच्चतर होता था, यद्यपि इस अशय का कोई नियम नहीं था।

प्रारम्भ में श्रेणियों के नियम एवं उनके रीति-रिवाज उनके निजी मामलों के लिए बनाए गये थे। किन्तु उनकी न्यायिक निष्पक्षता, क्षमता एवं कार्यकुशलता ने राजा एवं प्रजा, दोनों को ही प्रभावित किया था। सम्भवत: यही कारण था कि राजाओं ने श्रेणियों को जनता के लिए न्यायालय के रूप में कार्य करने के लिए मान्यता तथा अधिकार दे दिया था। सबसे पहले याज्ञवल्क्य ने श्रेणी के न्यायालय के रूप में कार्य करने का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य ने विभिन्न कोटि के न्यायालयों का उल्लेख करते हुए सर्वप्रथम राजा को रखा है और उसके बाद राजा द्वारा नियुक्त किये गये न्यायिक अधिकारी का न्यायालय, उसे बाद पूग

---

1 गिल्ड ओरगनाइजेशन, पृ0 50-51
2 एपिग्राफिका इण्डिका 8, पृ0 82
3 सद्दपययमहाण्णवो, पृ0 93

तथा श्रेणी को रखा है।[1] नारद के अनुसार श्रेणी का चार सामन्य न्यायालयों में दूसरा स्थान था (नारद स्मृति; 1.7) 'दिव्यावदान' में उल्लेख प्राप्त होता है कि एक श्रेणी ने –पूर्ण' नामक एक वाणिज को 60 कर्षापण का अर्थदण्ड दिया था। पूर्ण नामक वणिज ने इस निर्णय के विरुद्ध राजा से अपील की, राजा ने श्रेणी के द्वारा दिये गये फैसले को निरस्त कर दिया था।[2]

कुषाण काल में पहली बार ग्राम व्यवस्था में 'दण्डनायक' और 'महादण्डनायक' के बारे में सूचना मिलती है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम संघ, संघ के मुकदमों का निर्णय करता था। इस समय ग्राम व्यवस्था भी संघ के अधीन थी इसी कारण कई ग्राम अधिकारी जैसे–ग्रामणी, ग्रामिक (ग्राम मुख्य), ग्रामभोजक (ग्राम वृद्ध) वहां नियुक्त होते थे बी0 चट्टोपाध्याय के अनुसार लगता है कि केन्द्रीय शासन की कोई पकड़ संघ पर नहीं थी।[4] जूनागढ़ अभिलेख से मंत्रिसचिव और कार्यसचिव दो अधिकारियों का ज्ञान संघ के सम्बन्ध में होता है।

उपरोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट है कि विवेच्य-काल में श्रेणियों के संगठन आधुनिक बैंकों की भाँति कार्य करते थे। ये संगठन जिनके बैकों का जाल सारे देश में फैला हुआ था, नियमबद्ध व्यवस्था वाली रही होगी जिससे जनता अपनी बड़ी धनराशि उन्हें सौंप सकने का विश्वास कर सकती थी। लोक में इनकी साख इतनी अच्छी थी कि राजा लोग भी इसमें धन जमा करते थे और ऋण लेते रहे होंगे।[5] इनकी गतिविधियां व्यापार, वाणिज्य उद्योग के क्षेत्र में सामूहिक

---

1. यारूवल्क्य; 2/191
2 दिव्यावदान, पृ0 स0 32–33; मोती चन्द्र, 'सार्थवाह', पृ0 151
3 'प्रोसीड़िग ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस' पृ0 सं0 68
4. "कुषाण स्टेट एण्ड इण्डियन सोसाईटी"; बी0चट्टोपाध्याय पेज नं0 120
5. डॉ0 प्रदीप कुमार केसरवानी; "प्राचीन भारत में वैश्य समुदाय की स्थिति और उसकी भूमिका" पृ0 222

और अतिरिक्त पूंजी सन्निवेश तथा सुगम वित्तीय स्थानान्तरण का मार्ग प्रशस्त करती थी।

श्रेणियों के शक्ति बढ़ने से और समाज में उनका विस्तार होने पर उनकी सैन्य व्यवस्था का स्वरूप भी विकसित हुआ। कालान्तर में उन्हें सेना रखने की अनुमति भी प्राप्त हो गयी। कम्बोज और सौराष्ट्र प्रदेशों में क्षत्रियों की श्रेणियां थीं। कौटिल्य ने 'श्रेणी-बल' का उल्लेख करते हुए उनकी शक्ति की चर्चा की है।[1] वृहस्पति और याज्ञवल्क्य जैसे धर्मशास्त्रकारों ने भी श्रेणियों की सैनिक शक्ति का सन्दर्भ दिया है।[2] रामायण में 'संयोधश्रेणी' का उल्लेख है।[3] महाभारत में भी श्रेणीबल का सन्दर्भ मिलता है।

अतः स्पष्ट है कि श्रेणियों ने अपनी सैन्य व्यवस्था स्थापित किया था जिसके आधार पर वे अपनी सुरक्षा करती थी और आवश्यकता होने पर राज्य तथा राजा की सहायता भी करती थी।

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर कह सकते हैं भारत के आर्थिक जीवन को सम्मुन्नत, प्रवर्धित और सुसम्पन्न करने में श्रेणी संस्था का अद्वितीय योगदान था। इस संस्था ने समाज के व्यापारिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य किया था। इस संस्था ने समाज और देश को गतिशीलता प्रदान की थी जिससे राष्ट्र का भौतिक और आध्यात्मिक उत्थान हुआ।

---

1 अर्थशास्त्र पृ0 340

2 वृहस्पति0, 1-28-30 याज्ञ0, 2.30;

3 रामायण; 2.123.5;

पंचम-अध्याय

व्यापार वाणिज्य

व्यापार वाणिज्य

(1) आन्तरिक व्यापार

भारत के सामाजिक उत्कर्ष में प्रधान आर्थिक तत्व वाणिज्य का सर्वाधिक महत्व था। 'वार्ता' के अन्तर्गत कृषि और व्यवसाय के साथ वाणिज्य का भी योग था, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने आर्थिक जीवन को सबल और सशक्त बनाता था। वैदिक काल के पूर्ववर्ती समाज में व्यापार अथवा वाणिज्य का कोई उल्लेखनीय विकास नही हुआ था। उस समय आर्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। वे केवल कृषि और व्यवसाय का विकास करते हुए अपने ग्रामों और समाज की स्थापना में तत्पर थे। किन्तु कालान्तर में उत्तर-वैदिक काल के अन्तर्गत जब उनके समाज और कृषि-व्यवसाय का उत्कर्ष हुआ तब उन्होंने नगरों की स्थापना की तथा उन्हें विभिन्न रूपों में संयोजित किया। नगरों में कृषि से उत्पन्न अनाजों और व्यवसायों से निर्मित वस्तुओं का आना-जाना प्रारम्भ हुआ जो तत्कालीन समाज के दैने-दिन, आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। इस प्रकार वस्तुओं के क्रय-विक्रय से व्यापार का उदय तथा व्यापारिक मार्गो का विकास हुआ। वस्तुओं के एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिए रथ, घोड़े, बैलगाड़ी, ऊँट, हाथी तथा नाव आदि का प्रयोग किया जाता था। वस्तुओं के क्रय-विक्रय में मोल-भाव करने के कतिपय उल्लेख वेदों में मिलते हैं। लेकिन छठी शताब्दी तक आते-आते भारतीय आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई पड़ता है। जिसके कारण वाणिज्य व्यापार के क्षेत्र में

उल्लेखनीय प्रगति हुई। मौर्य-काल तक आते-आते राजकीय नियंत्रण के सशक्त होने तथा राज्य द्वारा व्यापार के उन्नति के लिए विभिन्न प्रयास किये जाने से वाणिज्य व्यापार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई।

किन्तु विवेच्य काल अर्थात (द्वितीय शताब्दी ईसा पू0 से द्वितीय शताब्दी इसवीं) के मध्य भारत के राजनीतिक क्षितिज पर अनेक उलटफेर हुए। मौर्य काल की समाप्ति के पश्चात् राजनीतिक घटनाओं में विखराव सा आ गया था, लेकिन इस काल की राजनीतिक अवस्था के भीतर एक तत्व था जो इसको अविछिन्नता और संगति प्रदान करता था, वह था व्यापार। शुगों, सातवाहनों, इण्डो-यूनानियों, शकों कुषाणों, के समस्त उलटफेर के बावजूद वणिक समुदाय अधिकाधिक शक्तिशाली होता गया। भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर अभारतीयों का अधिपत्य वणिकों के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ, क्योंकि इससे उन अंचलों के साथ व्यापार का अवसर मिला जो अब तक अछूते पड़े हुए थे। हिन्द यवन राजाओं ने पश्चिमी ऐसिया और भूमध्यसागरीय संसार से सम्पर्क स्थापित करने में प्रोत्साहन दिया। शक-पार्थियन और कुषाण राजाओं ने भारतीय व्यापारियों के लिए मध्य-ऐशिया के द्वार खोले। जिसके फलस्वरूप चीन से भारत का व्यापार होने लगा। मसालों और ऐसी अन्य विलास की वस्तुओं के लिए रोमनों की माँग भारतीय व्यापारी को दक्षिण पूर्व ऐशिया तक ले गयी तथा रोमन व्यापारी को दक्षिण और पश्चिम भारत तक ले आई। फलस्वरूप समस्त भारत में व्यापारी समुदाय के साथ-साथ देश भी समृद्ध हुआ। जिसका प्रमाण शिलालेखों में व्यापारियों द्वारा दान की गयी राशियों तथा तत्कालीन साहित्य में मिलता है जिसका समर्थन

पुरातात्विक स्रोतों से भी होता है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आर्थिक क्रिया-कलाप केवल व्यापार तक ही सीमित थे अथवा कृषि की अवनति हो गयी थी। कृषि से अब भी राजस्व प्राप्त होता था लेकिन वाणिज्यिक कार्य-कलापों की चहल-पहल ने उन लोगों को महत्वपूर्ण बना दिया जिनका सम्बन्ध वाणिज्य से था।[1]

विवेच्य काल के सम्बन्ध में सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय उपमहाद्वीप में इस समय जो वाणिज्यिक विकास हो रहा था, उसमें उत्तर तथा दक्षिण भारत पूरी तरह से निमग्न था। पूरे उत्तरी दक्कन में सातवाहनों की सत्ता स्थापित हो जाने से उत्तर और दक्षिण भारत के बीच यातायात सम्भव हो गया और फलत: उपमहाद्वीप के आन्तरिक व्यापार में वृद्धि हुई। इस समय तक सम्पूर्ण भारत में व्यापारिक मार्गो का जाल बिछ चुका था और इनमें से तो कुछ मार्ग मध्य ऐशिया और पश्चिमी ऐशिया तक जाते थे।

वाणिज्य व्यापार के लिए स्मृतिकारों ने कुछ नियम बनाये थे। मौर्यकाल में व्यापार पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण था। लेकिन मौर्योत्तर काल में व्यापार पर राजा का पूर्ण नियंत्रण तो नहीं था किन्तु फिर भी जो व्यापारी राज्य के नियमों का पालन नहीं करते थे उन्हें दण्ड दिया जाता था। मनु ने निर्देश दिया है यदि कोई व्यापारी ऐसी किसी वस्तु का निर्यात करें जिस पर राज्य का एकाधिकार हो तो राजा को उसकी पूरी सम्पत्ति

---

1 रोनिका थापर भारत का इतिहास पृ0 सं0-९८.

जब्त कर लेनी चाहिए।[1] मनु ने व्यापार के सम्बन्ध में अनेक नियम दिये हैं। उनका विचार है कि राजा को व्यापारी और खरीदार दोनों के हितों को ध्यान में रखना चाहिए। उसे वस्तु की खरीद, उसको रखने, उस पर लाने में जो खर्च लगा हो, इन सभी का हिसाब लगाकर व्यापारी की लागत का हिसाब लगाना चाहिए। राजा को हर पन्दह दिन बाद वस्तुओं मूल्यसूची का निरीक्षण करना चाहिए और यह भी देखना चाहिए कि व्यापारी नापने और तौलने के लिये ठीक बाँट और पैमाने प्रयोग में ला रहे हैं या नहीं।[2] उसी के अनुसार राजा को व्यापारी के लाभ पर 5 प्रतिशत कर लगाना चाहिए न कि उसकी लागत पर[3]। इसी प्रकार का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है।[4] रामायण में भरत के व्यापारियों की सुरक्षा के सम्बन्ध में दिये गये निर्देशों का विवरण है।[5]

परन्तु स्मृतिकारों ने विभिन्न वर्णो के लिए बनाये गये कुछ नियम व्यापार वाणिज्य की प्रगति में वाधक भी थे। व्यापार द्वारा जीवन निर्वाह करने का प्रावधान केवल वैश्यों के लिए किया गया था। ब्राहमण के लिए व्यापार को अनुचित ठहराते हुए मनु ने कहा कि इससे उनकी प्रतिष्ठा घटती है।[6] और व्यापारी 'ब्राहमण को दिया गया दान न तो इस लोक में फल देता है और न परलोक में ही फल देता है।[7] पंतजलि के अनुसार ब्राहमण

---

1 मनु 8/399 उद्धत डा0 प्रदीप केशरवानी- 'प्राचीन भारत में वैश्य समुदाय की स्थिति और उसकी भमिका' पृ0-172.

2 वही0 8/398

3. वही0 8/398-'शुल्कस्थानेषु कुशलः सवपण्यविचक्षणः।। कुर्यरर्घ यथापण्यं ततो विश नृपोहरेत।'

4 महाभरत शान्तिपर्व 8/16.

5 अयोध्या काण्ड, अध्याय 103.

6 मनु 3/152 एवं 181, 8/102.

7 वही0 3/181.

को दूकान में बैठा देखकर उसे कोई ब्राहमण नहीं समझेगा।[1] ब्राहमणों एवं क्षत्रियों को केवल संकट काल में कुछ गिनी चुनी वस्तुओं के व्यापार द्वारा जीवन यापन करने की अनुमति दी गयी थी।

मौर्योत्तर काल में पहली बार सम्पूर्ण देश के लगभग सभी राजवंशों ने बड़े पैमाने पर सिक्के जारी किये थे। परिणामस्वरूप क्रय-विक्रय एवं व्यापारिक खरीद फरोख्त में काफी सुविधा हो गयी थी और महाजनी के व्यवसाय में विशेष प्रगति हुई। अब श्रेणी संगठन भी अधिक व्यवस्थित, सशक्त एवं प्रभावी हो गये थे। मौर्योत्तर काल में ही इन संगठनों ने सर्वप्रथम बैकों के रूप में कार्य करना प्रारम्भ किया था और उसके नियमों एवं परम्पराओं ने एक संविधान का रूप प्राप्त किया था। जिसे राज्य की मान्यता प्राप्त थी। डी0डी0 कोसाम्वी के अनुसार मौर्योत्तर काल में नासिक, कार्ले, जुन्नर तथा नानाघाट के बौद्ध बिहार काफी सम्पन्न हो गये थे और वे सम्भवतः व्यापारियों को धन उधार देते रहे होंगे।[2]

द्वितीय शाताब्दी ई0पू0 में व्यापार की प्रगति में व्यापारिक पथो का बहुत अधिक महत्व था। इस युग में एक ओर तो उत्तर भारत के सभी प्रमुख व्यापारिक नगर मार्गों द्वारा एक दूसरे से जुड़े थे। दूसरी ओर उत्तर-भारत को कई स्थल एवं जल मार्ग दक्षिण भारत से जोड़ते थे। पहला प्रमुख मार्ग जो उत्तर भारत को दक्षिण भारत से जोड़ता था प्रतिष्ठान से श्रावस्ती आता था। यह राजमार्ग माहिष्मती, उज्जयिनी, गोनद्ध, विदिशा,

---

1. कशिका, 2/2/6 "आपणे आसीनं दृष्टवाऽध्यवस्थत्यं ब्राहमण इति।"
2. जी0 एल0, अढ़या, 'अर्ली इण्डियन इकनोमिक्स' पृष्ठ-98.

कौशाम्बी और साकेत में होकर गुजरता था, कुसीनारा, मन्दिर, पावा, वैशाली पाटलिपुत्र भी इस सड़क से जुड़े हुए थे। इस राजमार्ग के सबसे प्रमुख सहायक मार्ग वे थे जो दक्षिण पश्चिम भारत के नगरों जैसे उज्जयिनी, प्रतिष्ठान और नगर को मृगुकच्छ से जोड़ते थे। पेरिप्लस के अनुसार उज्जयिनी से बड़ी माना में सूती कपड़ा मृगकच्छ से लाया जाता था।[1] वहां से गोमेद और इन्द्रगोप और मलमल आदि वस्त्र भी भृगुकच्छ जाये जाते थे।[2] प्रतिष्ठान से गाड़ियों में भरकर बड़ी मात्रा में इन्द्रगोप और तगर से अनेक प्रकार के वस्त्र भृगुकच्छ लाये जाते थे।[3] भृगकच्छ से ये वस्तुएं पश्चिमी देशों को भेजी जाती थी।

दूसरा प्रमुख राजमार्ग जो दक्षिण पश्चिम को दक्षिण पूर्व से जोड़ता था, भृगुकच्छ से कौशाम्बी होकर ताम्रलिप्ति पहुँचता था। सम्भवतः वाराणसी से उज्जयिनी जाने वाले व्यापारी इसी मार्ग से जाते रहे होंगे।[4] चम्पा, पाटलिपुत्र और वाराणसी जाने वाले अनेक व्यापारी गंगा में नावों से यात्रा करते थे।[5] इन स्थल और जल मार्गो के द्वारा वेग, पुंड्र और काशी की मलमल उज्जयिनी पहुँचती थी और भृगुकच्छ के बन्दरगाह से विदेशों को भेजी जाती थी।

तीसरा प्रमुख राजमार्ग पूर्वी भारत को पश्चिमी भारत से जोड़ता था यह पाटलिपुत्र से सिन्ध के मुहाने पर पत्तल पहुँचता था। सिन्ध नदी के

1 पेरिप्लस 47.
2 वही0 48
3 वही0 51.
4 जातक 2, 48.
5. वही0 1, 112, 4, 5, 17, 159, 6, 12, 35.

डेल्टे से यह मार्ग ईरान होकर पश्चिमी देशों को जाता था। इस मार्ग के द्वारा सिन्ध और ईरान से घोडे गंगा के मैदान के नगरों को लाये जाते थे।

चौथा मार्ग चम्पा से पुष्कलावती पहुँचता था इसका उल्लेख मेगस्थनीज ने भी अपने वर्णन में किया है।[1] यह मार्ग पाचाल के प्रसिद्ध नगर काम्पिल्य[2] और मद्र के प्रसिद्ध नगर शाकल[3] होकर तक्षशिला पहुँचता था और वहाँ से पुष्कलावती, पूर्व में यह मिथिला से चम्पा[4] पहुँचता था। उत्तर पश्चिमी भारत से आने वाले घोड़ों के व्यापारी इसी मार्ग से वाराणसी पहुँचते थे। इस राज मार्ग के सहायक मार्गो द्वारा हिमालय पर्वत के प्रदेश में मिलने वाली वस्तुएं जैसे खाल, ऊन, मसाले और बहुमूल्य मणियां इस मार्ग से लाकर दूर के प्रदेशों को भेजी जाती थी।

पाँचवा प्रमुख मार्ग भृगुकच्छ से पुष्कलावती[5] जाता था। पेरिप्लस ने लिखा है कि कश्मीर और हिन्दकुश से इस मार्ग द्वारा बालछड़ विदेशों को भेजने के लिए भृगुकच्छ[6] लाई जाती थी उत्तरपूर्व और पश्चिम से आने वाले दोनों प्रमुख राजमार्ग पुष्कलावती में मिलते थे। वहां से पामीर के पठार में होकर यह मार्ग वैक्ट्रिया पहुँचता था।[7] इस प्रकार कच्चा रेशम, रेशम का धागा और रेशमी कपड़े चीन से वैक्ट्रिया लाये जाते थे। वहाँ से

---

1 स्ट्रैवो 15, 1, 11.
2 जातक 6, 4, 19, 463.
3 मिलिन्द पञ्ह 16 के आगे उद्धृत - ओम प्रकाश- 'प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास'
4 जातक, 6, 32.
5. पेरिप्लस 47. उद्धत ओम प्रकाश 'प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास' पृ0-103.
6 वही0 48.
7 प्लिनी 6, 17.

ये वस्तुएं भृगुकच्छ लाकर पश्चिमी देशों को ले जाई जाती थीं।[1] प्लिनी के अनुसार वैक्ट्रिया से आक्सस नदी और कैस्पियन सागर में होकर भारतीय वस्तुएं पूर्वी यूरोप पहुंचती थी।

एक चीनी इतिवृत्त से पता चलता है कि भारत और वैक्ट्रिया के बीच व्यापार ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में भी होता था। जब चीन का रेशम का व्यापार बढ़ा तो तारिम नदी की घाटी पर चीन का राजनीतिक और सैनिक प्रभाव बढ़ गया। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध से चीन के रेशम के व्यापारका उसने बाद की कई शताब्दियों तक आक्सस की घाटी उत्तर पश्चिमी भारत और पश्चिमी ऐशिया के राजनीतिक और आर्थिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। चीन के सम्राट बूती (ई0पू0 140-86) ने फरगना, वैक्ट्रिया के शासकों के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किये।[2] वैक्ट्रिया के मार्ग में व्यापारियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। मार्ग में अनेक कबीले रहते थे, जो व्यापारियों को लूट लिया करते थे। जब ईसा की पहली शताब्दी में पार्थिया युद्ध में फँस गया तो स्थल द्वारा व्यापांर बहुत कम हो गया। अधिकतर व्यापारी भृगुकच्छ से होकर समुद्र द्वारा पश्चिमी देशों को जाने लगे। चीन का मार्ग भी जब तक चीन ने तुकिस्तान पर अधिकार न किया असुरक्षित रहा। पेरिप्लस से पता चलता है कि कच्चा रेशम, रेशम के धागे और रेशमी कपड़ा स्थल मार्ग द्वारा चीन से बैक्ट्रिया और वहाँ से भड़ोच और गंगा नदी के द्वारा

1. आढ़या उपर्युक्त पृ0 159.
2. आढ़या उपर्युक्त पृ0 159.

कोरोमण्डल तट पर ले जाया जाता था।[1] परन्तु जब कनिष्क का साम्राज्य भारत से मध्य ऐशिया और चीन की सीमा तक फैल गया तो भारत के मेसोपोटामिया और चीन के साथ व्यापार में बहुत वृद्धि हो गयी। इससे कुशाण साम्राज्य समृद्ध हुआ।

इस प्रकार विवेच्य काल में एक ओर तो उत्तर भारत के सभी प्रमुख व्यापारिक नगर मार्गो द्वारा एक दूसरे से जुड़े थे। दूसरी ओर उत्तर भारत के कई स्थल एवं जल मार्ग दक्षिण भारत से जुड़ते थे। पतंजलि ने स्त्रुघ्न (सुध) और पाटलिपुत्र जाने वाले पथों के अतिरिक्त प्रसिद्ध उत्तरापथ का भी उल्लेख किया है जो पुष्कलावती से तक्षशिला तक जाता था और इसके आगे सिन्धु, झेलम, व्यास, सतलज, एवं यमुना नदियों को पार करता हुआ तथा हस्तिनापुर, कन्नौज और प्रयाग आदि नगरों से गुजरता हुआ पाटलिपुत्र पहुँचता था। पाणनि का अनुशरण करते हुए पंतजलि ने संकरे, चौड़े और जंगली एवं जलीय पथों का उल्लेख किया है।[2] पथों की सुख सुविधा एवं सुरक्षा पर राजाओं द्वारा ध्यान दिये जाने के बावजूद अनेक मार्ग उबड़-खाबड़ तथा असुरक्षित थे। महावस्तु से पता चलता है कि मार्गो में व्यापारियों तथा अन्य यात्रियों को हिंसक पशुओं एवं लुटेरों, डाकुओं के आक्रमणों का सामना करना पड़ता था।[3] कुछ रास्ते में गाड़ियों के पहिए जमीन में धंस जाते थे और कभी-कभी गाड़ियां टूट जाती थी।[4] द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व से द्वितीय शती ई0 के बीच स्थल मार्गो से होने वाले

1. पेरिप्लस -64.
2. अग्निहोत्री- 'पतंजलि कालीन भारत' पृ0-335-37.
3. महावस्तु 3/303/1-2.
4. ललित विस्तार 493/18/19-21 सत्तक, 1/17/6-7.

व्यापार की अपेक्षा जलीय मार्गों द्वारा किया जाने वाला व्यापार अधिक लाभ प्रद एवं उन्नति पर था।

मौर्योत्तर काल में बन्दरगाहों का व्यापार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान था। द्वितीय शताब्दी में प्रमुख बन्दरगाहों तथा व्यापारिक केन्द्रों का विस्तृत विवरण पेरीप्लस, प्लिनी तथा टालमी के ग्रंथों में दिखाई पड़ता है। जिनकी आंशिक पुष्टि भारतीय साक्ष्यों से भी होती है। पूर्वी उत्तर-प्रदेश में वाराणसी बिहार में वैशाली, पाटलिपुत्र एवं चम्पा पश्चिमी बंगाल में ताम्रलिप्ति (मिदनापुर जिले में रूप नारायन नदी के तट पर वर्तमान तामलुक) तथा गंगे (बंगाल राज्य के डेल्टाई भाग का महत्वपूर्ण बाजार नगर) सिन्ध में पाटल एवं बर्बरिकम्, गुजरात में मृगकच्छ (भड़ौच) महाराष्ट्र में शूर्पारक (सोपारा) प्रतिष्ठान (पैठषा) कल्याण, तगर (तेर) और सेम्मिल, उड़ीसा में दोसारेन (तोसलि) और पोलौरा (दंतपुर), आध्र में मछलीपट्टम्, तथा धरणीकोट, चोल राज्य में उऐयूर कावेरीपट्टनम अरिकमडु, कमेर (मद्रास के निकट कावेरी के मुहाने पर एवं सोपत्म (मद्रास तथा पांडिचेरी के बची में स्थित) नेगपट्टिनम्, सबूरस (कडुलूर) आदि महत्वपूर्ण बन्दरगाह तथा व्यापारिक केन्द्र थे। कोकण प्रदेश में नित्रा एक बड़ा बन्दरगाह था, कर्नाटक में बिजेन्टियम् (विजयदुर्ग) तथा मेलीजिगर (जयगढ़) केरल राज्य में मालावार तट पर मुजिरिस (पेरियार नदी के तट पर स्थित वर्तमान क्रेंगनोर), टिडीज (मुजिरिस के उत्तर में समुद्र तट के निकट), नेलकिन्डा (मालाबार तटवर्ती नीलेश्वर या कोट्टम एवं बेकरे बरके या बैरस (नेलकिन्डा से लगभग 20 किलोमीटर दूर स्थित पोरकड़) भी प्रसिद्ध बन्दरगाह थे।[1]

---

1 रालिंसन, इण्टरकोर्स विटवीन इंण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड.

पूर्वी भारत का ताम्रलिप्ति सबसे बड़ा बन्दरगाह था। जो कि आन्तरिक मार्ग द्वारा विभिन्न नगरों से जुड़ा हुआ था। राजगृह, श्रावस्ती, वाराणसी, तक्षशिला तथा अन्य प्रमुख नगर ताम्रलिप्ति से जुड़े हुए थे। सुदूर पूर्व के देशों तथा पश्चिमी देशों से ताम्रलिप्ति स्थल एवं जलीय, दोनों प्रकार के मार्गो से जुड़ा था। तक्षशिला से वल्ख होकर जाने वाला महापथ इसे चीन से मिलाता था। भृगुकच्छ पश्चिमी भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन्दरगाह था। दन्तपुर हाथी दांत के लिए प्रसिद्ध था। मछलीपट्टम् भी महत्वपूर्ण व्यापारिक नगर था। उड़ीसा तथा आन्ध्र के बन्दरगाह सातवाहनों के अधीन थे। कोरोमंडल तट के बन्दरगाह चोल तथा पाण्ड्य राज्यों में स्थित थे। पूर्वी समुद्र तट के बन्दरगाहों में कावेरीवत्तनम् सबसे बड़ा था। तमिक काव्य मणिमेखकै (22/1/57) तथा शिलप्पदिकारम् (13/174-80) में इसका उत्लेख पुहार नाम से हुआ है। मौर्योत्तर काल में यहां रोम के व्यापारियों की एक बस्ती भी थीं। मालाबार के तट के बन्दरगाहों में मुजिरिस (केग्रनोर) सबसे प्रसिद्ध था।

टालमी के अनुसार मदुरा, क्वीलन और कोल्काई (कोल्ची) पाण्ड्य राज्य के सबसे महत्वपूर्ण बन्दरगाह थे। पेरिप्लस में चोल राज्य के आगे (उत्तर में) बन्दरगाहों का विवरण संक्षिप्त है जबकि टालमी ने कृष्णा के आगे के समुद्र तटीय बन्दरगाहों आदि का विवरण नहीं दिया है।

भड़ौच से प्रतिष्ठान पहुंचने में 20 दिन तथा प्रतिष्ठान से तगर (तेर) पहुंचने में 10 दिन लगते थे एक मार्ग मछलीपट्टम और दूसरा बेनुगोडा से प्रारम्भ होकर तेर, पैठण तथा दौलताबाद होकर मरकिंद एवं

अजन्ता पहुंचता था। वहां से पश्चिमी घाटों के तटीय क्षेत्र बाला मार्ग 160 किमी0 की दूरी तय करके भड़ौच पहुँचता था।[1]

पतंजलि ने वणिक (तराजू लेकर घूमने वाले व्यापारी) क्रय-विक्रय (वस्तुओं का खरीद फरोख्त करने वाला व्यापारी), वस्निक (व्यापार में पूंजी लगाने वाला) तथा सार्थवाह (काफिले का प्रधान) का उल्लेख किया है। सार्थवाह काफिला बनाकर दूर-दूर के क्षेत्रों या देशों में व्यापार के लिए जाते थे। पतंजलि ने स्त्रुघ्न जाने वाले एक सार्थ का उल्लेख किया है।[2] ललित विस्तार में (493/9-12) में दक्षिणापय के दो सार्थवाहों का वर्णन है जो व्यापारिक वस्तुओं तथा 500 व्यापारियों के साथ उत्तरापथ गये थे। अवदानशतक (1/27/6-7) में उल्लिखित है कि श्रावस्ती के 500 वणिजों वाला एक सार्थ रास्ता भूल गया था। मार्गो में चोर डाकुओं द्वारा सार्थ को लूटने के भी विवरण प्राप्त होते हैं। सामान्यत: समृद्ध साथवाह एवं अन्य व्यापारी आवश्यकता पड़ने पर अपने राजा को आर्थिक सहयोग देते थे किन्तु असाधारण परिस्थिति में सार्थवाह कभी-कभी अपने राजा से आर्थिक सहायता भी लेते थे। महावस्तु में एक सार्थ द्वारा कोशल के शासक से धन माँगने का उल्लेख है।[3]

व्यापार तथा वाणिज्य में साझेदारी का नियम सबसे पहले स्मृतिकाल में ही बना। याज्ञवल्क्य के अनुसार लाभ के लिऐ साझेदारी में व्यापार करने वाले व्यापारी अपने पूँजी निवेश के अनुसार व्यापार में जो

---

1. ट्रेड एण्ड रुटस पृ0-116.
2 अग्निहोत्री प्रमुदयाल, 'पंतजलि कालीन भारत' पृ0 326.
3 महावस्तु रु/35रु+-6.

हानि और लाभ होगा उसके वे अधिकारी होते हैं। किन्तु साझेदारी में यदि एक व्याापारी दूसरे साझेदार के जानकारी या अनुमति के बिना कोई खरीद फरोख्त करता था, किसी निषिद्ध वस्तु का विक्रय करता था अथवा प्रमाद बस कोई (साझे की) वस्तु नष्ट कर देता था तो इससे होने वाली क्षति पूर्ति के लिए वही जिम्मेदार ठहराया जाता था।[1] एक साथ मिलकर व्यापार करने वालों में यदि किसी साझेदार की मृत्यु हो जाती थी अथवा वह यादि विदेश चला जाता था तो उसका हिस्सा उसके परिवार वालों को दे दिये जाने का नियम था जिसका उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है। परिवार वालों की अनुपस्थिति में राजा उसका अंश ले सकता था।[2]

पतंजलि ने निम्नलिखित व्यापारिक वस्तुओं का उल्लेख किया है- गुण, मूंग, अनाज, दाले, घी, दही, कुलमाथ, पुए, लड्डू, मांस, नमक शाक-सब्जी, फल, मद्य, सुरा, मैरेय, आसव एवं कपिशायन आदि मादक पेय रेशम मलमल, ऊन, सूती वस्त्र, चादर, कम्बल, गुग्गुल, हल्दी, चंदन, सोने चाँदी के आभूषण, फूलमालाए, वीणा, मजीरा, आदि वाद्य, मूर्तियाँ और खिलौने, नीली (नील) लाक्षा (लाख), रोचना एवं गेरुचर्म, मिट्टी तथा धातु के बर्तन, वनसम्पदा, खनिज पदार्थ, गाय बैल, अश्व, हाथी, काबुली घोड़े, भेड़, बकरी, शकट (बैलगाड़ी) शकटी, रथ, नौका, हल, औजार, उपकरण, अस्त्र-शस्त्र, तुला एवं बाँट। विप्पत्ति में वैश्य के व्यवसाय द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले ब्राहमण के लिए निम्नलिखित का विक्रय निशिद्ध ठहराया गया है-यथा अतसी के सूत से बने वस्त्र, कौशेय वस्त्र, नील, सोमलता,

---

1 याज्ञवल्क्य 2/259-60.

2 काशिका, 1/1रू!4, 4/4/72, अग्निहोत्री, प्रभुदयाल पंतजलि कालीन भारत पृ0 329-31.

मनुष्य (दास) वेत, कुश आदि, घास, पुआ, तिल, रस, नमक, छार, सीसा, दूध, दही, घी, माँस, शाक-साब्जियाँ, औषधि गन्ध, मद्य, मधु, लाख मिट्टी, चमड़ा, पुष्प, विश, भूमि एवं एक खुर वाले पुश।[1]

विवेच्य काल में पूर्वी भारत तथा अपरान्त (कोकण) के सूती वस्त्र एवं इस्पात के अस्त्र-शस्त्र, पूर्वी एवं दक्षिणी भारत के हाथी, कम्बोज के कम्बल, कोमेदार वस्त्र, कश्मीर के अंगूर, पाण्ड्य राज्य की चन्दन की लकड़ी, चोल, और चेर राज्यों के वैदूर्य एवं मोती मशहूर थे। सूत, ऊन, रेशम और इनसे बने वस्त्रों का व्यवसाय करने वाले संगठनों को क्रमशः कर्पासिक, ऊर्णवापक और कौशाविक कहा गया है।[2] इस काल के बौद्ध ग्रथ कपास के भारी मात्रा में उत्पादन के संकेत देते हैं। दिव्यावदान (131/32) के अनुसार यह कहावत देश भर में प्रचलित हो गयी थी कि देवता कपास की वर्षा करते हैं। इस काल के वस्त्रों की बारीकी का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि एक जोड़ा कमर में बाँधने वाले महीन वस्त्र को छाते की ड़ंडी के भीतर रखा जासकता था।[3] इसका संकेत बरीक मलमल की ओर ही था।

मौर्योत्तर काल तक आते-आते भारतीय लोग कीड़े पालनकर, रेशम बनाने की तकनीक सीख चुके थे जिसके परिणाम स्वरूप रेशम उद्योग और व्यापार में अभूतपूर्व प्रगति हुई तथा रेशम अब तक भारत के निर्यातों की सूची में आ गया था। महावस्तु में कई प्रकार के भारतीय रेशमों का

---

1. याज्ञवल्क्य 3/35-38.
2 वही0 2/264.
3 दिव्यावदान, 171/5, 17/21.

विवरण प्राप्त होता है। काशी के रेशमी वस्त्र (काशिकांशुक) इस काल में भी प्रसिद्ध थे।[1]

पेरीप्लस के अनुसार बर्बरिकन के बन्दरगाह से रेशम के धागों का निर्यात किया जाता था। भारत का सूती वस्त्र तथा मलमल सर्वोत्तम माना जाता था। पेरीप्लस के अनुसार मसलिया (मछलीपट्टम एवं गंगे (ताम्रलिप्ति) के मलमल बहुत उच्च कोटि के होते थे। उज्जयिनी तथा तगर से मलमल एवं अन्य कपड़े दूसरे स्थानों या देशों को निर्यात करने के लिए वेरीगाजा लाए जाते थे। शिलप्पदिकारम् में उल्लेख मिलता है कि मदुरा नगर की दूकानें, सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्रों से भरपूर रहती थी और इनके कय-विकय के लिए ग्राहकों की भीड़ लगी रहती थी। शिलप्पदिकारम् के मदुरा पुहार नगरों में सोने के कय-विकय के सभी विवरण हैं।[2] इस काल में मदुरा काली मिर्च तथा अन्य मसालों के व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। शिलप्पदिकरम् से पता चलता है कि मदुरा नगर में दूकानों पर बोरों में भीर काली मिर्च के ढ़ेर लगे रहते थे। मुजरिस तथा नेलकिंडा के बाजारों में पारदर्शी पत्थरों, हीरों तथा विभिन्न किस्म के नीलम आदि का व्यापार होता था। पुहार की सड़कों में जुलाहे सूती, रेशमी तथा लोम से निर्मित उत्कृष्ट वस्त्र बेचते थे। उज्जयिनी, बेरीगाजा तथा मछलीपट्टनम के बाजारों में बढ़िया किस्म के मलमल तथा अन्य वस्त्र बिकते थे। ताम्रपर्णी नदी अच्छे तथा उत्कृष्ट मोतियों के लिए हमेशा प्रसिद्ध रही और मुदरा नगर मुक्ता उद्योग व्यापर का सबसे बड़ा केन्द्र था। पेरिप्लस में तथा टाल्मी के

---

1 दिव्यावदान 196/13.

2 शिलप्पकिदकारम् 14/180-200.

भूगोल में उरैयूर एवं कोल्ची इस उद्योग और व्यापार के केन्द्र थे। पेरिप्लस के अनुसार कोल्चीनगर में कैदियों को भी मुक्ता केन्द्र में काम पर लगाया जाता था।[1]

भारत मोतियों, गोमेद, वैदूर्य, हीरे, सूर्यकान्त आदि कीमती पत्थरों के सबसे बड़े उत्पादक देशों में से एक था। कर्नाटक और तामिलनाडु इस पत्थर के लिए विशेष प्रसिद्ध थे। तामिलनाडु के सलेम तथा कोयम्बटूर जिलों में विभिन्न रंगों के आकर्षक बैदूर्य प्राप्त होते थे। स्मिथ का विचार है कि कोयम्बटूर के बैदूर्य की ईसा पूर्व आठवीं, सातवी, सदियों से ही दूसरे देशों में काफी माँग थी, लेकिन इस मत की पुष्टि के लिए साक्ष्य अनुपलब्ध हैं। प्लिनी के अनुसार वैदूर्य अन्य देशों में दुर्लभ था। पेरिप्लस में दक्षिण भारत से निर्यात किये जाने वाले पुखराज को भी शामिल किया गया है। मणिमेखलै में (2/11/29) में उरैयूर के मूगों की प्रशंसा की गयी है। वैट महोदय के अनुसार मालावार की पहाड़ियों में विभिन्न रंगों के नीलम पाये जाते थे।[2] समुद्र तटीय क्षेत्रों की व्यापारिक मण्डियों में शंख एवं इससे निर्मित वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था।

अफ्रीका के हाथी के दाँतों की ही भाँति भारतीय हाथी दाँत भी उच्च कोटि के माने जाते थे। उड़ीसा राज्य में दोसारेन (तोसलि) नामक बन्दरगाह नगर हाथी दाँत उद्योग एवं व्यापार का सर्वप्रमुख केन्द्र था। पेरिप्लस ने यहाँ के हाथी दाँतों की विशेष प्रसिद्ध का उल्लेख किया है।[3]

---

1 हरिपाद चक्रवर्ती, ट्रेड एण्ड कामर्श पृ0 124/142.

2 वही0 01 249.

3 वही0 218.

हाथी दाँत, बेरीगाजा, उज्जयिनी, गंगे, नेककिंडा तथा मुजरिस के बन्दरगाहों से देश के भीतर तथा बाहर अनेक स्थानों को भेजे जाते थे।

पंजाब तथा पश्चिमी भारत में टीक की लकड़ी और दक्षिण भारत में उत्पन्न होने वाले चन्दन, अंगरू आदि सुगंधित लकड़ियों की देश-विदेश में बहुत माँग थी। सिन्ध एवं कम्बोज राज्यों के घोड़े मौर्योत्तर काल में भी प्रसिद्ध थे और सूप्पारक नगर इनके व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र था। रामायण के कैकेय राज्य के शासक द्वारा कम्बोज के 10 हजार घोड़े भेट किये जाने का विवरण है।[1] प्लिनी के अनुसार पंजाब, गढ़वाल, छोटा नागपुर तथा कर्नाटक रेशेदार पेड़ पौधों के प्रमुख उत्पादक क्षेत्र थे। भारत इस्पात की तलवारे, छुरों तथा कांटों के लिए भी प्रसिद्ध था। इसका देश के भीतर तथा बाहर निर्यात किया जाता था। प्लिनी के अनुसार चेर राज्य के लोग सर्वोत्तम लोहा तैयार करते थे।[2]

---

1. अयोध्याकाण्ड, 113/2.
2. हरिपाद चक्रवर्ती पृ0 256.

(2) अन्तर्देशीय व्यापार

भारत में विदेशी व्यापार प्रागैतिहासिक काल से ही होता रहा है जब वैदिक आर्यो के आने से पूर्व भारतीय निवासी विदेशों से अपना व्यापारिक सम्बन्ध जल एवं स्थल मार्ग से रखते थे, तथा विभिन्न वस्तुओं का आयात-निर्यात करते थे। यह व्यापार समय के साथ-साथ अग्रसर होता हुआ मौर्योत्तर काल में काफी विस्तृत हो गया। विवेच्य काल के व्यापारियों ने न केवल आन्तरिक व्यापार क्षेत्र में अश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की अपितु अदम्य, साहस एवं उत्साह का परिचय देते हुए अन्तर्देशीय व्यापार में भी महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की। भारतीय व्यापारिक जगत में जो सोने की खेती हुई उसके फूले पुष्प चुनने वाले व्यापारी वर्ग ही थे। बुद्धि के धनी, सत्य में निष्ठावान, साहस के भण्डार, व्यावहारिक सूझ-बूझ में पगे हुए, उदार, दानी, धर्म और संस्कृति में रुचि रखने वाले, नई स्थिति का स्वागत करने वाले, देश-विदेश की जानकारी के कोष, यवन, शक, पहलव, रोमक, ऋषिक, हूण, पक्कण आदि विदेशियों की भाषा और रीति-नीति के पारखी-भारतीय व्यापारी महोदधि के तट पर स्थित ताम्रलिपि से सीरिया की अन्ताखी नगरी तक, यव द्वीप, कटाहद्वीप (जावा और कोडा) से चोल मण्डल के सामुद्रिक पत्तनों और पश्चिम में यवन बर्बरदेशों तक के विशाल जल थल पर छा गये थे।[1]

---

1 वासुदेव सरण अग्रवाल, सार्थवाह, भूमिका पृष्ठ-2

द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व में भारत विश्व के कई देशों से स्थल एवं जल मार्गों से जुड़ा हुआ था। स्थल मार्गों में उत्तर-भारत का सबसे महत्वपूर्ण मार्ग ताम्रलिप्ति से चम्पा, वाराण्सी, कौशाम्बी, मथुरा, शाकल, और तक्षशिला होकर पुष्कलावती पहुँचता था।[1] पुष्कलावती से खैवर दर्रे, काबुल की घाटी, और हिन्दकुश को पार करके यह वैक्ट्रिया पहुँचता था। वैक्ट्रिया से ईरान के रेगिस्तान में होकर यह हेरात, मर्व, जग्रोस की घाटी में होकर, दजला और फरात नदियों को पार करके सीरिया में एंटियोक पहुंचता था।[2]

ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के मध्य में बैक्ट्रिया और पार्थिया के यूनानी शासक के अधिपत्य से मुक्त हो गये। बेग्राम के उत्खनन से यह स्पष्ट हो गया है कि इस काल में व्यापार में बहुत उन्नति हुई और इस व्यापार में कई देश भाग ले रहे थे।[3] भारत और सीरिया का यह व्यापार अधिकतर उस मार्ग से होता था जो बैक्ट्रिया, हिकैटाम्पाइलोस, एकबतना और सेल्युसिया से गुजरता था। पार्थिया में इस समय राजनीतिक शान्ति नहीं थी। किन्तु वहाँ के शासकों के सिक्कों से स्पष्ट है कि उस सयम उनकी आर्थिक 'दशा बहुत अच्छी थी। क्योंकि चीन, भारत और रोम साम्राज्य के बीच जो व्यापार होता था, वह उनके देश में होकर गुजरता था। मौर्योत्तर काल में रोम पार्थिया और कुषाणों के साम्राज्यों ने पूर्व और पश्चिमी देशों के व्यापार से बहुत लाभ उठाया।

---

1 जातक 3, 365, स्ट्रैवो, 15, 1, 11 ।

2 जनरल आफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी-35 पृष्ठ- 31

3 जे0हैकिन, बेग्राम पेरिस 1939 उद्घृत-ओम प्रकाश-प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास पृष्ठ सं0 - 106

विवेच्य काल में असुरक्षा तथा मार्ग की अन्य कठिनाइयों के कारण स्थल मार्गों की अपेक्षा जलमार्गों का अधिक प्रयोग किया जाता था। 'दिव्यावदान' में उल्लेख प्राप्त होता है कि जहाजों के चालक अनुभवी होते थे और वे गंतव्य देशों की हानिप्रद बातों के बारे में अपने व्यापारियों को आगाह कर देते थे।[1] मिलिन्दपञ्हों में अनेक जहाजों के एक समृद्ध मालिक का उल्लेख है जो अपने जहाज को लेकर वंग, सौवीर (सूरत), कोरोमण्डल तट, तक्कोल तथा अलेग्जेड्रिया जाया करता था और जहाज भाड़े पर भी देता था।[2] मनुस्मृति में स्पष्ट लिया है कि समुद्र पर जाने वाले जहाजों का कोई निश्चित किराया नहीं है।[3] जिसका अर्थ सम्भवतः यह होता रहा होगा कि वह कम या अधिक हो सकता था। जातकों से ज्ञात होता है जहाज चलाने वाले की एक श्रेणियां होती थी, जिनका एक जेट्टक होता था। यही नहीं जातकों में दिशा बताने वाले कौओं का उल्लेख है। जब नाविक रस्ता भूल जाते थे तो इन कौओं को छोड़कर उस दिशा में चलते थे जिस दिशा में कौए जाते थे।[4]

दीघनिकाय तथा अंगुत्तरनिकाय में भी दिशा बतलाने वाले कौओं का उल्लेख है।[5] प्लिनी के वर्णन से इस बात की पुष्टि होती है कि भारतीय नविक समुद्र की यात्राओं में दिशासूचक कौओं का प्रयोग करते थे।[6]

---

1 दिव्यावदान 142/27
2 मिलिदपञ्ह से0बु0ई0 36 भाग 2 पृष्ठ-112
3. मनुस्मृति 8, 406
4 जातक 3, 267
5. दीर्घनिकाय, 11, 85 अगुत्तरनिकाय, 3, 367
6 प्लिनी, 6.22

विवेच्य काल के बौद्ध ग्रंथों मिलिन्दपञ्हो, दित्यावदान, महावस्तु, तथा ललितविस्तार, तथा संगम-युग के तमिक ग्रंथों अहनानूरु, पुरुनानूर एवं शिलप्पदिकारम् में कई प्रकार के जहाजों का वर्णन है और जहाज रानी पर प्रकाश डाला गया है। मिलिन्दपन्ह में जहाज के विभिन्न भागों के अतिरिक्त अनेक जहाजों के एक मालिक का भी उल्लेख है जो अपने पास एक यंत्र रखता था।[1] महाभारत में पाण्डवों के सुरक्षा के लिए किसी विशिष्ट तकनीक से बनाए गये जहाज का उल्लेख है जो आंधी तूफान का सामना कर सकता था।[2]

प्रथम एवं द्वितीय शदी के सामुदिक व्यापार के विषय में पेरिप्लस तथा टालमी के भूगोल ग्रंथ में सार्वधिक विस्तृत एवं प्रमाणिक विवरण प्राप्त हैं। टाल्मी के विवरण से भी इस सम्बन्ध में सूचना मिलती है। पेरीप्लस ने भारत के पूर्वी समुद्र तट की अपेक्षा पश्चिमी समुद्र तट से होने वाले व्यापार पर अधिक प्रकाश डाला है, जबकि टाल्मी ने दोनों समुद्रतटों से होने वाले व्यापार का विवरण दिया है। पेरीप्लस ने लिखा है कि पहली शताब्दी ईसवी में दक्षिणा-पथ के पश्चिमी तट पर सबसे महत्वपूर्ण बन्दरगाह भृगुकच्छ था।[3] इसके थोड़ा दक्षिण की ओर शूर्पारक और सिन्ध के मुहाने पर बारबेरिकम भी इस काल के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। दीघनिकाय[4] और जतकों[5] से रोरूक नामक बन्दरगाह की उपयोगिता के बारे में जानकारी

---

1 दृष्टव्य, विवेकानंद कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ0 112

2 बुच एम0ए0 Economic Life in Ancint Indian Allahabad and Vol. 1979.

3. पेरीप्लस, 51 के आगे।

4 दीघनिकाय, 2, 235. उधृत ओम प्रकाश, 'प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास' पृ0-107.

5 जातक, 3, 470. वही0

मिलती है। सम्भवतः यह बन्दरगाह कच्छ की खाड़ी में स्थित था। दक्षिणा-पथ के पूर्वी तट पर सबसे महत्वपूर्ण बन्दरगाह ताम्रलिप्ति था। जहाँ से गंगा-यमुना के मैदान की वस्तुएं पूर्वी देशों को जाती थी।[1] मिलिन्दपञ्हों में लिखा है कि भारतीय जहाज यहाँ से बंगाल मलयप्रायदीप, चीन, गुजरात, काठियावाड़, सिकन्दरिया, कोरोमण्डल तट, पूर्वीद्वीपसमूह आदि अनेक देशों को जाते थे और उनके स्वामी काफी धनी हो गये थे।[2]

मनु ने समुदी यात्रा करने वाले ब्राहमणों को श्राद्ध में भोजन कराने के अयोग्य बताया, लेकिन उन्होंने वैश्यों को सलाह दिया है कि वे अन्य देशों के उत्पादों तथा कय-विकय सम्बन्धी सभी भाषाओं और बोलियों की जानकारी रखे। बुच का विचार है कि मनु का पद नियम समुद्री यात्रा में नाविकों की भूल से हुई छति की पूर्ति के लिए वही नाविक जिम्मेदार थे, समुदी यात्रियों का एक प्रकार का बीमा किये जाने का संकेत देता है।[3]

पश्चिमोत्तर भारत के व्यापारी चीन, मध्य ऐशिया, तथा पश्चिमी ऐशिया के देशों से व्यापार करते थे और पश्चिमी तथा दक्षिण भारत के व्यापारी अरेबिया, अलेग्जेंड्रिया एवं लालसागर से। संगम युग (लगभग 100-300ई0) में तमिलनाडु एवं केरल राज्यों का जावा, सुमात्रा, थाईलैण्ड, बोर्नियो, फारस, ऐशिया माइनर, वेविलोन, यूनान तथा रोमन साम्राज्य से काफी बड़े पैमाने पर व्यापार होता था। 46-47 ई0 में हिप्पालस द्वारा

---

1 ए0एन0 बोस. 'शोसल एण्ड रूरल एकोनामी आफ नार्दन इण्डिया' द्वितीय शताब्दी ईसवी वायल्यून-2 पृ0 57, 1967

2. मिलिन्दपञ्ह 359 अद्धृत ओमप्रकश, 'प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास' पृ0 107. 1994.

3 बुच एम0 ए0-इकोनामिक लाइफ इन ऐंषियट इण्डिया इलाहाबाद।

मौसमी मानसूनी हवाओं की खोज किये जाने के परिणाम स्वरूप समुद्री व्यापार में अभूतपूर्व उन्नति हुई। भारत के ज्योतिषी गायक, नर्तन एवं जादूगर आदि भी पश्चिमी देशों में जाकर धन कमाते थे।[1] प्रथम शदी के उत्तरार्ध में रोमन साम्राज्य बहुत विशाल एवं शक्तिशाली हो गया था और सीरिया ईराक तथा मिस्र जैसे देश इसके अधीन थे। रोम के सम्राटों ने समुद्री मार्गो में लूटमार को समाप्त कर समुद्री व्यापार को प्रोत्साहित किया था और रोमन साम्राज्य पूर्वीदेशों से होने वाले व्यापार में सक्रिय भागीदार बन गया था। भारत तथा रोम के बीच व्यापार का शुभारम्भ आगस्टस से शासन काल (ईसा पू0 31-14 ई0) में हुआ था। विवेच्य काल में कई भारतीय राजाओं ने आगस्टस के यहां अपने दूत भेजे थे। स्ट्रैवो[2] से हमें ज्ञात होता है कि किसी भारतीय राजा ने आगस्टस के पास एक शिष्ट मण्डल भेजा था। उसी ने लिखा है कि दक्षिण भारत के किसी शासक ने आगस्टस को कुछ उपहार भेजे थे।[3] एक दूतमण्डल पुरु राज्य से (झेलम तथा चिनाव) नदियों के बीच के क्षेत्र से सर्प, बाँघ एवं यूनानी भाषा में लिखा एक पत्र लेकर रोमन सम्राट के पास गया था। दूसरा दूतमण्डल भड़ौच से गया था। जिसमें एक बौद्ध भिक्षु भी शामिल था। पाण्डय और चेर राज्यों ने भी रोमन सामाज्य में अपने दूतमण्डल भेजे थे। पाण्डय राज्य का दूत रोमन सम्राट को भेट करने के लिए बहुमूल्य रत्न, मोती तथा एक हाथी लेकर गया था। 99 ई0 में ट्राजन के राजदरबार में कुषाण शासक ने

1 अनिल डे सिल्वा, विवेकानन्द कमेमोरेशन वाल्यूम पृ0 301.
2 स्ट्रैवो 15, 1, 73.
3 वही0 15, 1, 4.

एक दूत मण्डल भेजा था। परन्तु मोती चन्द्र के इस मत से सहमत होना कठिन है कि रोमन साम्राज्य से व्यापार बढ़ाने के उद्देश्य से ही कदाचित् कनिष्क प्रथम ने अपने सोने के सिक्के रोमन सम्राटों की स्वर्ण मुद्राओं के अनुकरण पर ढलवाए थे। ट्राजन के विषय में कहा गया है जब वह दजला-फरात के मुहाने पर पहुँचा, तो वहाँ उसने भारत जाने के लिए तैयार अनेक जहाजों को देखा था। रोमन सम्राटों ने स्थल मार्ग से पार्थिया से होने वाले व्यापार को हतोत्साहित किया था। रोमन साम्रज्य से भारत का व्यापार लगभग एक सदी तो काफी बड़े पैमाने पर चलता रहा। किन्तु द्वितीय शताब्दी एवं इसके बाद इसमें निरन्तर गिरावट आती गयी। उसका संकेत भारत में पाए गये रोमन सिक्कों की संख्याओं से मिलता है।

ईसा की प्रारम्भिक शदी में तमिलनाडु में चोलों तथा पाण्डयों का शासक था और केरल में चेरों का। इन तीनों राज्यों के पास सुदृढ़ नौ सेनायें थी और उन्होंने समुद्री व्यापार को प्रोत्साहित किया। तमिलनाडु के अरिकामेडु, कावेरी पतनम (तंजावुर जिले) कोरक्कै, उरैयूर, कांचीपुर तथा केरल के मुजरिस नगर में किये गये पुरातात्विक उत्खननों में मिले पुरावशेष इन नगरों के रोमन साम्राज्य के साथ व्यापारिक सम्बन्धों की पुष्टि करते है। अरिकमेडु का सार्वाधिक महत्व था। यहाँ पर रोमन साम्राज्य के व्यापारियों की एक बस्ती के अवशेष मिले हैं। भारत में अब तक रोमन सिक्कों के 129 ढेर मिल चुके है इनमें से अधिकांश दक्षिण भारत में प्राप्त हुए है।[1] दक्षिण भारत में इतने सिक्के मिले है कि उन्हें ले जाने के लिए पांच

---

1 शर्मा, 'पर्सपेक्टिव्स इन सोशल एण्ड इकनामिक हिस्टरी' पृ0 144.

कुली लगेंगे।[1] ईसवीं सन् की दूसरी सदी के बाद के काल में रोमन साम्राज्य का तमिलनाडु एवं केरल राज्यों की अपेक्षा आन्ध्र, उड़ीसा तथा कुछ सीमा तक महाराष्ट्र और गुजरात के बन्दरगाहों से अधिक व्यापार होने लगा था। परन्तु इस कालावधि में व्यापार-वाणिज्य की मात्रा प्रथम सदी में हुए व्यापार से बहुत कम थी। तिबेरियस के सिक्कों के चार ढेर आन्ध्र से मिले हैं, दूसरी सदी के रोमन सम्राटों के कम से कम 10 ढेर आध्र राज्य के समुद्रतटीय क्षेत्रों से मिले है।

विवेच्य कालीन बौद्ध ग्रंथों में समुद्री व्यापार को स्थलीय व्यापार से अधिक लाभदायक बताया गया है।[2] इसीलिए भारतीय व्यापारियों के सार्थ, विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं के साथ समुद्रपार जाते थे।

पश्चिमी विश्व की एक महान शक्ति के रूप में रोमन साम्राज्य के उदय से भारतीय व्यापार को प्रथम शताब्दी ई0पू0 से ही लगातार बढ़ावा मिलता गया क्योंकि रोमन साम्राज्य भारत की विलास समाग्री का प्रमुख खरीदार हो गया। एक अज्ञात नामा यूनानी लेखक द्वारा लिखित (प्रथम शताब्दी ई0 सन्) 'पेरिप्लस आफ इरिथ्रियन सी' में रोमन साम्राज्य को भेजी जाने वाली भारतीय वस्तुओं का विशद वर्णन है। निर्यात की जाने वाली मुख्य वस्तुएं थीं-गोलमिर्च, मोती, हाथी दांत, जटाँमांसी, मलमल, हीरे, केशर, मसाले, रत्न और कछुए की खोपड़ी। प्लिनी के अनुसार आगस्टस द्वारा सिकन्दरिया पर अधिपत्य जमाए जाने के बाद रोम के लोग आमतौर

---

1 एज आफ इंपीरियल यूनिटी. पृ0 621-22.

2 अनिल डे सिल्वा, विवेकानन्द कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ0 301 उद्धत, श्याम मनोहर मिश्रा, 'प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन' पृ0 सं0 293.

पर मोतियों का ही प्रयोग करने लगे। रोमन बालाऐं न केवल अंगुलियों और कानों में ही मोती धारण करती थी बल्कि अपने जूतियों में भी उन्हें जड़ती थीं। रोम के लोग भारतीय मलमल पर लट्टू थे। रोम की औरतें भारतीय मलमल को सात-तहों में धारण कर रोम की सड़कों पर घूमती थीं। कहते है कि नैतिक दृष्टि से उन्होंने नगर में खतरे की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। भारत के व्यापारी चीन से रेशम खरीदते थे और रोम साम्राज्य में उसका निर्यात करते थे। रोम को भारतीय वस्तुओं का मूल्य सोने में चुकाना पड़ता था।[1]

इस काल में रोम के द्वारा गर्म मसालों की माँग स्वदेशी उत्पादनों से नहीं हो पाती थी। इसलिए भारतीय व्यापारी दक्षिणपूर्व ऐशियाई देशों से इनका आयात करते थे। और पुनः रोमन साम्राज्य को निर्यात कर विचौलिए के रूप में लाभ कमाते थे। काली मिर्च की रोमन साम्राज्य तथा पश्चिमी देशों में अधिक माँग थी, इसलिए कतिपय साक्ष्यों में इसे (यवनप्रिय) कहा गया है। मुजरिस (क्रेगनोर) कालीमिर्च का सबसे बड़ा केन्द्र था। सफेद मिर्च, पिपलामुल की भी माँग थी। 'शिलप्पदिकारम्' से पता चलता है कि 'मदुरा' नगर में मिर्च से भरे बोरों के ढ़ेर लगे रहते थे। 'वेकरे', 'बेरीगाजा' से तीनों प्रकार की मिर्च का निर्यात किये जाने के साक्ष्य मिलते है प्लिनी[2] के अनुसार रोम में काली मिर्च, सफेद मिर्च, पिपलामूल क्रमशः 4, 7, 15 दीनार प्रति पौण्ड के भाव बिकती थी। भारत से रोम को

---

1 पेरिप्लस आफ दी एरिथ्रियन सी, पृ0 से 52-32

2 प्लिनी उद्धत श्याम मनोहर मिश्रा, प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन 1977 पृ0-294.

इलायची, दालचीनी, एवं जटाँमांसी का निर्यात किया जाता था। प्लिनी[1] के अनुसार रोम में सर्वोत्तम प्रकार की इलायची का मूल्य 60 दीनार प्रतिपौड था। पेरिप्लस से पता चलता है कि 'बेरीगाजा' से तीन प्रकार की जटाँमांसी रोमन साम्राज्य को भेजी जाती थी। रोम के व्यापारी जटाँमांसी के पत्तियों का भी आयात करते थे। जो 40 से 75 दीनार प्रति पौण्ड की दरों से बिकती थी। इसका तेल बहुत महँगा बिकता था जो कि दवा के काम आता था। जटाँमांसी का निर्यात मुख्यतः 'नेलकिन्डा' बन्दरगाह से किया जाता था। प्लिनी के अनुसार (सिन्धु) पत्तल नगर में दो प्रकार का कुस्थ पैदा होता था। रोम में कुस्थ की बड़ी मांग थी। इनका प्रयोग औषधियों एवं सुगन्धित द्रव्यों के निर्माण में, भोजन को स्वादिष्ट बनाने में तथा मदिराओं को अधिक समय तक सुरक्षित रखने में किया जाता था। पेरिप्लस के अनुसार बेरीगाजा तथा बर्वरिकन के बन्दरगाह से कुस्थ का निर्यात किया जाता था। बंगाल के गंगे नामक बन्दरगाह से पश्चिमी देशों को जटामाँसी भेजा जाता था।

विवेच्य काल में भारत से बड़े पैमाने पर सूती कपड़े विशेष रूप से मलमल तथा रेशम का निर्यात किया जाता था। वस्त्रों की बारीकी का अनुमान दिव्यावदान के इस कथन से किया जा सकता है कि कमर में बाँधने वाला एक जोड़ी महीन रेशमी वस्त्र को छतरी की छण के भीतर रखा जा सकता था।[2] ऐरियन ने भारतीय सूत की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यह अन्य देशों के सूत से अधिक सफेद तथा चमकीला होता था। 'लूसियन' के अनुसार भारत के मलमल यूनानी मलमलों से अधिक बारीक

---

1 वही० पृ० स० 294.

2. दिव्यावदान 171/5, 17, 21.

तथा हल्के होते थे। भारत के उत्कृष्ठ मलमलों एवं रेशम की रोमन साम्राज्य में प्रयाप्त खपत थी। पेरिप्लस के अनुसार मलमल एवं क्षौम गुजरात में बनते थे ओर बेरीगाजा तथा बर्वरिकम के बन्दरगाहों से रोमन साम्राज्य को निर्यात किये जाते थे। सिन्ध, गंगा की घाटी के क्षेत्र, मछलीपट्टनम्, कावेरीपट्टनम्, तथा मदुरा में बढ़िया किस्म के क्षौम बनते थे और इनका निर्यात किया जाता था। रोम के लोग इन वस्त्रों को सोने के बराबर तौल पर खरीदते थे।

भारत, चीन से कच्चा रेशम, रेशम के धागे व रेशमी वस्त्र मंगाता था किन्तु भडौल से रेशम के धागे का भी निर्यात होता था।[1] भारत से रंगीन लाख,[2] अगर,[3] नील, और खाड[4] विदेशों को भेजे जाते थे। पेरिप्लस के अनुसार आवनूस[5] सागौन,[6] चन्दन[7] और प्लिनी के अनुसार बास[8] भी विदेशों को भेजे जाते थे।

प्लिनी ने भारत को रत्नों का उत्पाद देश कहा है। रोमन शासकों की रानियां भारतीय मूंगों मोतियों तथा अन्य कीमती पत्थरों की शौकीन थी। पेरिप्लस ने नेलाकिन्डा एवं मुजरिस बन्दरगाहों से रोम को नीलम निर्यात किये जाने का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त हीरे,

---

1 पेरिप्लस, 39. ओम प्रकाश, 'प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास' पृ0 109.
2. पेरिप्लस 6.
3 प्लिनी, 27, 14.
4 पेरिप्लस 14 वही
5 पेरिप्लस-36.
6 वही-53.
7 वही-36.
8 प्लिनी-16, 65.

दूधिया, स्फटिक, मूंगे, वैदूर्य, गेमंद, सूर्यकान्त, तथा तामड़ा पत्थर, भी भारत रोमन साम्राज्य को भेजता था। भारत का वैदूर्य उच्च कोटि का था। कोरोमण्डल तट से इसका निर्यात किया जाता था। प्रथम सदी में मुजिरिस और नेलकिंडा से रोमन साम्राज्य को हीरे निर्यात किये जाते थे। महाकोशल तथा उड़ीसा में हीरे उपलब्ध थे। प्लिनी के अनुसार भारतीय हाथी दाँत भारी मात्रा में रोमन साम्राज्य को निर्यात किये जाते थे। भारतीय गैडे की सींगों से निर्मित वर्तनों एवं डिब्बों की भी रोम में बहुत खपत थी। बेरीगाजा तथा बर्बरिकन के बन्दरगाहों से लीसियम एवं नील रोमन साम्राज्य को निर्यात किया जाता था। रोम में लीसियम 220 दीनार प्रति पौण्ड बिकता था। भारत में बनने वाली तलवारें छुरे एवं कोंटे विश्व में प्रसिद्ध थे। रोमन साम्राज्य तथा अन्य पश्चिमी देशों को इनका निर्यात किया जाता था।

रोमन सम्राटों के लिए भारत से तीन तोते भेजे जाने का विवरण प्राप्त होता है। पेरिप्लस के लेखक तथा प्लिनी के अनुसार रोम के व्यापारी बर्बरिकन के बन्दरगाह से खाले, रंगीन चमड़े तथा लोम ले जाते थे। भारतीय समुद्री कछुओं की खोपड़ियों का मुजरिस तथा नेलकिन्डा बन्दरगाहों से निर्यात किया जाता था।

भारतीय व्यापारी निर्यात के बदले में रोमन साम्राज्य से सोना, चाँदी, सिक्के, पुखराज, महीनवस्त्र, लिनेन, अंजन, कच्चा शीशा, तांबां, टिन, लेड, शराब, शरवत के पात्र, मैनसिल, हरताल और गेहूं का आयात करते थे। रोमन लोग भारत को शराब के दोहत्थे कलश और लाल

चमकीले अरैटाइन मृदभाण्ड भी निर्यात करते थे, जो पाण्डेचेरी के निकट अरिकमेडु में मिले हैं। इसके अतिरिक्त सामन्त राजा अपने लिए चांदी के वर्तन, गाने वाले लड़के तथा अन्तःपुर के लिए सुन्दर यवन कुमारियां भी रोम से मँगाते थे। भडौच के बन्दरगाह पर राजा के रनवास के लिए विदेशों से सुन्दर कुमारिया लाई जाती थी।[1] इटली की उत्कृष्ट मदिराएं बर्वरिक, बेरीगाजा, नेलकिन्डा और मुजरिस के बन्दरगाहों से आती थी जिसकी भारत के राजा, महाराजों और सम्पन्न लोगों में काफी माँग थी। अरिकामेड के उत्खनन से अंम्फोरा, अरिटाइन तथा रौलेटेड मृदभाण्ड मिले हैं। जिनका उपयोग शराब के रखने तथा पीने में किया किया जाता था।

रोम से आयात की जाने वाली अन्य वस्तुओं में आकर्षक दीपक काँसे के वर्तन, कहरुबा एवं शीशे की आकर्षक वस्तुएं शामिल थीं। भारत में अरब और मिस्र से घोड़े आयात किये जाते थे। जिसकी सूचना पेरिप्लस से मिलती है।[2] बारवेरिकम, मुजरिस और नेकसिंडी के बन्दरगाहों पर सन के बने हुए कपड़े का आयात होता था।[3] शराब और खजूर, बड़ी मात्रा में उम्मान से भड़ौच लाए जाते थे। शिलाजीत मिस्र से भारत लाया जाता था।[4] लोहे का आयात मिस्र से भारत किया जाता था, उम्मान और अपोलोगस से सोना[5] व चांदी[6] भड़ौच लाई जाती थी। टिन तथा ताँवा का

---

1 पेरिप्लस 49.

2 पेरिप्लस 28. उद्धृत ओम प्रकाश प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास पृ0 सं0 110

3 पेरिप्लस 36.

4 पेरिप्लस 28, 39, 49.

5. पेरिप्लस 36, 39.

6. वही0 36.

भी भड़ौच के बन्दरगाह से आयात किया जाता था। लाल हरताल, सुरमा, भड़ौच, मुजरिस ओर नेलसिंडी में विदेशों से लाया जाता था।[1] इसी व्यापारी सीथिया से अम्बर भारत लाते थे।

भारत रोम के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि रोमनों ने केवल सोने और चांदी के सिक्के भारी मात्रा में भारत भेजे; ईसा के प्रथम शतक में रोमन सिक्कों में अड़सठ खजाने ते इस उपमाहद्वीप में मिले हैं। और कम से कम सत्तावन खजाने विन्ध्य के दक्षिण में प्राप्त हुए हैं।[2] प्लिनी का कथन है कि भारत के साथ व्यापार में रोमनों को अपार धन खर्च करना पड़ता था। वह दु:खविभूत होकर कहता है भारत, चीन और अरब हर साल दस करोड़ सेस्टर चूस लेते हैं इस राशि का लगभग आधा भाग भारत आता था।[3]

अत: स्पष्ट है कि भारतीय व्यापारियों को इस व्यापार में भारी मुनाफा हो रहा था। इस व्यापार में भारतीय व्यापारियों को रोम से हर वर्ष लगभग पचास करोड़ सोस्टर्स की प्राप्ति होती थी, इसलिए प्लिनी का कथन सत्य ही प्रतीत होता था।[4]

उत्तर भारत व पश्चिमी भारत का श्रीलंका और तमिल राज्यों से व्यापार होता था। जातकों[5] में श्रीलंका को नागद्वीप कहा गया है। मृगकच्छ से जो जहाज पूर्वीद्वीपसमूह जाते थे, वे श्रीलंका होकर जाते थे।[6] तमिल

---

1 पेरिप्लस 44, 49, 56.

2 ह्वीलर, 'रोम विमीड दि इम्पीरियल फ्रंटियर्स पेलिकन', पृ0 164.

3 इण्टर कोर्स बिट्विन इण्डिया एण्ड द वेस्टर्न वल्ड पृ0 109-110.

4 रोमिला थापर-भारत का इतिहास पृ0 106.

5 ए0एन0 बोस-सोशल एक सरल एकोनामी आफ नार्दन इण्डिया 600 ई0पू0 से 200 ई0 पू0 तक वायल्यूम-2 69-70.

6 जातक 3/188.

साहित्यिक परम्परा से ज्ञात होता है कि सिन्धु और पंजाब के घोड़े उत्तर भारत से सेना और बहुमूल्य मणियाँ और पूर्वी समुद्रों से मूंगा कावेरीपत्तनम ले जाया करते थे। आन्ध्र, कलिंग और बंगाल के नाविक वर्मा, मलावा, सुमात्रा, जावा और कम्बोडिया तक जाते थे। उत्तर भारत की अधिकतर वस्तुऐं ताम्रलिपि से इन देशों को भेजी जाती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विवेच्य काल विदेशी व्यापार के कारण देश की आर्थिक स्थिति अच्छी हो गयी थी तथा व्यापारी वर्ग काफी समृद्ध हुआ। व्यापार के कारण ही देश के अन्दर अनेक नगरों तथा उपनगरों का, और दक्षिणापथ के पूर्वी तथा पश्चिमी किनारों पर अनेक बन्दरगाहों का विकास हुआ। उत्तरभारत के प्रसिद्ध नगर पुष्पकलावती, तक्षशिला, शाकल, मथुरा, कौशाम्बी, कन्नौज, वाराणसी प्रतिष्ठान धान्यकोट और सुदूर दक्षिण में कांची और मदुरा थे। इन नगरों में विदेशों से अनेक वस्तुऐं लाई जाती थी जिनको इस नगर के निवासी बहुत मूल्य देकर खरीदते थे। विदेशी व्यापार के कारण इन नगरों के निवासी बहुत अधिक समृद्ध शाली हो गये थे। डायोक्रिसोस्टम और प्लिनी के अनुसार इस समय भारत संसार में सबसे धनी देश था। और यदि यह हम स्वीकार करें कि गुप्तकाल प्राचीन भारत का स्वर्ण काल था तो हमें यह बाध्य होकर मानना पड़ेगा कि इस समृद्धि की नींव मौर्योत्तर काल (लगभग ईसा पू0 200 से 200 ई0) के बीच ही पड़ी, जिसमें भारत का व्यापार पश्चिम में रोम तक और पूर्व में पूर्वीद्वीप समूह तक फैल गया।

षष्टम्-अध्याय

राजस्व व्यवस्था

"राजस्व व्यवस्था"

भू-राजस्व के निर्धारण में भूमि की किस्म महत्वपूर्ण तथ्य रहा होगा। गौतम जो सम्भवतः प्राक-मौर्य काल के है तीन स्पष्ट दरों का उल्लेख करते हैं। षष्टांश, अष्टांश, दशांश। टीकाकार इन दरों को विभिन्न किस्म की भूमियों पर मानते हैं।[1] कौटिल्य 'षडभाग' नामक एक आय का उल्लेख करते है जो सम्भवतः भूराजस्व का संकेत देता है।[2] दूसरी जगह अर्थशास्त्र में 'धान्यषडभाग' लिखा हुआ है अर्थात राजा द्वारा लिया जाने वाला उपज का षष्टांश की समदर ही स्वीकार करते है। दूसरी जगह[3] वह स्वयं कहते हैं कि 'गोप' ऊँची और नीची जमीन का अलग-अलग उल्लेख करें। असामान्य राज्य का नियम लिखते हुए उनका विचार है कि सिंचित क्षेत्र की उपजाऊ भूमि की उपज का निर्धारण छिलका निकाले अन्न का तृतीयांश या चतुर्थांश होना चाहिए। लेकिन मध्यम या निम्न श्रेणी की भूमि के लिए कर निर्धारण की दर निम्नतम् है।[4]

विवेच्य कालीन विधि निर्माताओं में मनु[5] निर्दिष्ट करते हैं कि राजा उपज का 1/6, 1/8 या 1/12 ले सकता है। यह अवतरण 'वीरमित्रोदय' में उद्घृत है। वहा यह कहा गया है कि उपर्युक्त विकल्प भूमि में उपज तथा

---

1. गौतम पर हरदत्त की टीका पृ0 10, 24 ।
2 अर्थशास्त्र - 2, 15 ।
3 अर्थशास्त्र - 2, 35 ।
4 अर्थशास्त्र - 5-2 ।
5 मनु 7.130 'धान्यनामष्टमी भागः षष्ठों द्वादश एवं वा'

परिणाम स्वरूप कृषि में अपेक्षाकृत कम या अधिक श्रम पर निर्भर है।[1] मनु कहते हैं जो राजा प्रजा की बिना रक्षा किये ही उपज का छठाँ हिस्सा लेता है वह अपनी प्रजा के सारे पापों को अपने उपर ले लेता है।[2] विष्णु[3], नारद[4] के अतिरिक्त महाभारत ने बार-बार कहा गया है कि राजा छठे हिस्से का अधिकारी है वह षंड्भागिन की उपाधि से जाना जाता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि भूमिकर (मालगुजारी) की दर भूमि के उपजाऊ को ही ध्यान में रखकर निर्धारित की गयी थी और वह सामान्यतः षष्टांश की दर रही होगी। हांलाकि न्यूनाधिकता अवश्य ही स्वीकार रही होगी।

मेगस्थनीय के वृन्तान्त से पता चलता हे कि कौटिल्य के आदेश के वावजूद भी मौर्यकालीन भूमिकर (मालगुजारी) काफी अधिक था। यू0 एन0 घोषाल ने डायोडोरस द्वारा उधृत मेगस्थनीज के कथन का यह अर्थ लगाया है कि खेतिहार साधारणतः उपज का चतुर्थाश मौर्यराज्य को प्रदान करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यूनानी राजदूत की भूराजस्व की दर का उल्लेख उस दर के बराबर था जो भारतीय विधिनिर्माताओं ने संकट काल के किए विहित किया था। रूमिनदेई अभिलेख से पता चलता है कि लुम्बिनी ग्राम भगवान बुद्ध का जन्म स्थान होने के कारण केवल आठवाँ हिस्सा देना पड़ता था तथा उसे बलिकर से भी मुक्त कर दिया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धान्तः कौटिल्य ने उपज में छठे भाग को भूमिकर की सामान्य दर निर्धारित किया था। किन्तु व्यवहार में यह अनुपात बहुत ऊँचा

---

1 द्रढ्व्य गंगानाथ झा "नोट्स आन मनुस्मृति" 2 पृ 466

2 मनु 7. 308 ।

3 विष्णु 3.22 ।

4 नारद

था और यदि यूनानी साक्ष्य को स्वीकार किया जाय तो वह दर 1/4 से कम नहीं था लेकिन आगे विवेच्च काल में भी यह असंगति थी या नहीं इस सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी नही मिलती।

प्रश्न उठता है कि भूराजस्व (मालगुजारी) कृषक की सकल आय पर लगता था या कृषको को प्राप्त लाभ पर? विवेच्चकाल के अप्रत्यक्ष स्रोतों से पता चलता है कि व्यापारियों पर 'कर' उनके शुद्ध लाभ पर लगाने का प्रयत्न हुआ है लेकिन कही भी विधिनिर्माताओं ने यह नहीं कहा कि भूमिकर कृषकों के लाभ पर निर्धारित होता था। कुलूक ने मनु के एक श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा कि राज्य का अंश लागत पूँजी पर बृद्धि में ही आंका जाना चाहिए। मेघातिथि तथा गोविन्द ने भी इसका समर्थन किया है। नन्दन ने कहा है कि "हर मामले में खर्च कॉटने के बाद बचे लाभ पर ही राजा का हिस्सा होता है।" चूँकि ये टीकाकार बाद के काल के हैं अत: स्मृति के श्लोक का उनका निर्वचन हमारे उपर लागू नहीं हो सकता। समकालीन स्रोतों में शान्तिपर्व[1] ही राज्यांश निश्चित करने में आय-व्यय का मानदण्ड मोट तौर पर स्वीकार करता है लेकिन विवेच्य काल के किसी अन्य ग्रंथ में यह संकेत नही मिलता कि भूमिकर कृषकों के लाभ पर निश्चित किये जाते थे। साक्ष्यों के अभाव में हम केवल अनुमान के आधार पर यह कह सकते है कि विवेच्य काल में भूमिकर पूँजी पर नहीं बल्कि 'लाभ' पर लगता रहा होगा।

---

1. शतपथ ब्रह्मण 120.9 ।

भूमिकर पर लगाए जाने वाले विशेष प्रकार के 'कर' के नाम के रूप में 'भाग' शब्द का सर्व प्रथम उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है।[1] 'राष्ट्र' शीर्षक के अन्तर्गत एक स्थान पर 'बलि' का आदि शब्दों के साथ यह शब्द स्वतन्त्र रूप में उल्लिखित है दूसरी जगह 'षड्‌भाग' शब्द का एक खण्ड है जो उसी सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत 'बलि कर' आदि के साथ उल्लिखित है। अतएवं भाग शब्द से निःसन्देह उपज का षष्टांश होता था।[2] मौर्योत्तर काल में भाग का उल्लेख प्रधान 'भूमिकर' के रूप में हुआ है रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में कहा गया कि राजकोश 'बलि', 'शुल्क' तथा भाग से भरा गया है। और सुदर्शन बाँध का निर्माण 'कर' विशिष्ट तथा प्रणय द्वारा लोगों को उत्पीड़ित किये बिना हुआ है। चूँकि अन्तिम तीनो कर उत्पीड़न कहे गये हैं। अतः 'भाग' जिसे कि उत्पीड़क नहीं कहा गया है शायद भूराजस्व के प्रधान मद का द्योतक है अर्थात उपज में राजा का सामान्य हिस्सा है।

दूसरा वित्तीय (फिस्कल) शब्द 'बलि' है जो कि पूर्व कालीन स्रोतों में मिलता है। यह राजकीय राजस्व का प्राचीनतम आर्य शब्द है। ऋग्वेद में यह प्रजा तथा विजित राजा दोनों ओर से राजा का पावना है।[3] लेकिन मैकडानेल तथा कीथ[4] का विचार है कि 'बलि' प्रारम्भ से ही कर के रूप में थी जो प्रजा की स्वेक्षा पर पूर्णतः निर्भर थी, लेकिन ब्राह्मण काल में

---

1 शतपथ ब्राह्मण 2, 61 ।

2. यू०एन० घोषाल - "समहिन्दू फिस्कल टमर्स डिस्कस्ड" प्रोसीडिंग्स आफ कोर्प ओरियन्टल कान्फेस 2 पृ० 205 ।

3. यू० एन० घोषाल - 'कन्टीव्युशन्स टू द हिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवन्यू सिस्टम'

4. वैदिक इन्डेक्स - 2, 62 ।

'बलि' प्रजा द्वारा देय अनिवार्य अंशदान के रूप में ज्ञात थी[1] और यदि यह कभी स्वैक्षिक भी थी तो परवर्ती काल में यह केवल नाममात्र की स्वैक्षिक रही होगी। हम यहाँ यह कह सकते हैं कि प्राचीन असीरिया में भी बहुत दिनों तक इसक तथ्य के बावजूद कि प्रजा को नियमित कर भुगतान करने के लिए बाध्य किया जाता था। ऐसे भुगतान के लिए 'दान' शब्द का ही प्रयोग किया जाता था।[2] यह असम्भव नही है कि प्राचीन भारत में कुछ दिनों तक राजस्व शब्दावली तथा उसके वास्तविक विषय में अर्न्तविरोध चला हो।[3]

राजस्व नामावली के क्रमिक विकास तथा करारोपण की कुछ नई मदों के साथ 'बलि' शब्द का अर्थ भी बदलता प्रतीत होता है। अर्थशास्त्र में 'बलि' शब्द का प्रयोग उपज में राजा के सामान्य अंश के अतिरिक्त मूलतः छोटी-छोटी उपज कर के रूप में हुआ है।[4] जबकि जातकों[5] में इस शब्द से प्रायः अतिरिक्त तथा उत्पीड़न उप-करों का बोध होता है।

विवेच्य कालीन ग्रंथ मिलिन्दपञ्हों[6] मैं 'बलि' का उल्लेख एक संकटकालीन 'कर' के रूप में किया गया है जिससे चार मुख्यमंत्री मुक्त घोषित है। मौर्योत्तर काल में इस शब्द के अर्थ में कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ता है। लेकिन रूद्रदामन (150 ई0) का जूनागढ़ अभिलेख जो 'बलि' को

---

1 ऐतरेय ब्राह्मण 7, 29 ।

2. ओम स्टीड, हिस्ट्री आफ असीरिया

3 राम शरण शर्मा - पॉलिटिकल आइडियाज एण्ड इंस्टिट्यूशन्स पृ0 132 ।

4 यू0 एन0 घोषाल - समहिन्दूफिस्कल टमर्स स्किास्ड' यूनेत पृ0 203 ।

5 मिलिन्दपन्ह पृ0 146 ।

6. जातक 1 पृ0 199, 399, 2 पृ0 240; 3, पृ0 3; 5, पृ0 98 ।

कर के अर्थ में प्रयुक्त करने वाला विवेच्य काल का एक मात्र अभिलेख है से मिलिन्दपन्हों के मत की पुष्ठि नहीं होती।

मिलिन्दपञ्हों में संकटकालीन 'कर' के रूप में 'बलि' का उल्लेख स्थानीय परिवर्तन नही माना जा सकता क्योंकि उस ग्रंथ का रचना क्षेत्र और जूनागढ़ जहाँ रूद्रदामन का उल्लेख मिलता है दोनों एक दूसरे में बिलकुल समीप है। साथ ही किसी अन्य स्रोत में 'बलि' को संकटकालीन कर के रूप में उल्लिखित नहीं किया गया है अतः यह सम्भव है कि मिलिन्दपन्हों में संकटकालीन 'कर' के अर्थ ने बलि का प्रयोग मिथ्याकरण ही हो।

कुछ अभिलेखों ने 'बलि' शब्द का अर्थ एक धार्मिक कर के रूप में उल्लिखित किया गया हैं। टामस[1] ने रूमिनदेई अभिलेख में वर्णित इस शब्द की व्याख्या एक धामिक 'कर' के रूप में किया है मैती ने भी इसे धार्मिक कर ही माना है। लेकिन विवेच्यकालीन रूद्रदामन के अभिलेख में जहाँ बलि का प्रयोग 'कर' के अर्थ में हुआ इसका उल्लेख 'शुल्क' तथा 'भाग' जैसे राज वित्तीय शब्दों के साथ मिलता है।

'कर' के रूप में 'बलि' की चर्चा अधिकांश विधिक तथा साहित्यिक रचनाओं में हुई है जिसमें तकनीकी अर्थ में मांग पर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया है भूमि कर की दर के सम्बन्ध में मनु[2] ने भाग का नही 'बलि' का

---

1. टामस- जनरल आफ द रायल ऐशियाटिक सोसाइटी आफ गेट बिट्रेन एण्ड आयरलैण्ड 1909 पृ0 467 उद्घृत - डी0एन0 झा- मौर्योतर तथा गुप्त कालीन राजस्व व्यवस्था पृ0 सं0 52 ।
2. मनु0 7,130 ।

उल्लेख किया है। यही बात महाभारत[1] के राजधर्म प्रकरण के सम्बन्ध में भी है। अश्वघोष ने भी 'बलि' का उल्लेख नियमित भूमिकर के अर्थ में करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म शास्त्र तथा साहित्य ने प्रयुक्त भाग तथा अभिलेखों में प्रयुक्त भाग एक ही है।

'कर' राजस्व स्रोत का दूसरा प्रकार है राजवित्तीय शब्द के रूप में 'कर' इससे पूर्व के साहित्य में अज्ञात प्रतीत होता है। किन्तु अर्थशास्त्र तथा विधि ग्रन्थों में यह बार-बार मिलता है। मनु[2] के एक श्लोक में अनेक टीकाकारों ने इसका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। मेघातिथि के अनुसार 'कर' का अर्थ द्रव्य का दान (द्रव्यदानम) तथा सर्वज्ञ नारायण के अनुसार भूमि पर एक निश्चित स्वर्ण भुगतान (भूमिनिपतम् देयम् हिरण्यम्) है। रामचन्द्र ने इसका अर्थ घास, काष्ठ आदि के रूप में अंशदान (गुलनदायादिकम्) किया है। कुलूक इसका अर्थ ग्रामीणों तथा पुरवासियों द्वारा मासिक या भाद्रपद तथा पौष में अंशदान (ग्राम पुरवासिम्यः प्रतिमासम्)। ये अन्तिम दो व्याख्याए कौटिल्य पर भट्ट स्वामी की टीका में इस शब्द की व्याख्या से बहुत कम मिलती-जुलती है।[3] भट्टस्वामी 'कर' से तात्पर्य भाद्रपद बसन्त आदि मासों में चुकाया जाने वाला 'कर' ही समझते हैं अतः स्पष्ट है कि 'कर' सभी चल-अचल सम्पत्तियों पर एक भार (शुल्क) है। इस प्रकार कर का स्वरूप ग्रामीणों से लगभग सर्वत्र उदग्रहीत आवधिक 'कर' रहा होगा और उसकी पुष्टि रूद्रदामन (150 ई0) के जूनागढ़

---

1. शतपथ ब्राह्मण - 69, 24;72.10 ।
2 मनु0 7, 307 ।
3 अर्थशास्त्र 2.15 ।

तथा 'भाग' से भरा गया है (बलि शुल्क भागै) और सुदर्शन झील पर बाँध का निर्माण 'कर' 'वेगार' तथा 'प्रणय' द्वारा लोगों का उत्पीड़न किये बिना ही हुआ है। एक जगह 'बलि' तथा दूसरी जगह 'कर' के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि दोनों सामान्य कर के लिए नहीं प्रयुक्त हो सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि 'कर' एक उत्पीड़न शुल्क था। इसी लिए यह सामान्य भूमिकर (मालगुजारी) से भिन्न तथा इसके अतिरिक्त था। साहित्यक तथा पुरालेखीय स्रोतों से पता चलता है कि 'कर' एक सामान्य 'कर' था। अश्वघोष इसे 'कर' के विस्तृत अर्थ में लेते हैं। एक अभिलेख[2] में 'कर' भूराजस्व (भाग) तथा 'भोग' को छोड़कर सभी प्रकार के अभिदायों के अर्थ में आया है। एक अन्य अभिलेख[3] में शुल्क, 'भाग', 'भोग' तथा 'हिरण्य' इनमें शामिल नहीं है। स्मृतियों में 'कर' का उल्लेख व्यापारियों के लाभ पर लगे 'कर' में अर्थ में भी किया गया है। इसीलिए 'कर' शब्द बदलते सन्दर्भ में सामान्य तथा विशेष दोनों अर्थ में बिना सोचे समझे प्रयुक्त हुआ है इसे कोई अर्थ देना कठिन है। यह एक प्रकार का भूराजस्व प्रतीत होता है लेकिन इसका सही स्वरूप तय नहीं किया जा सकता।

अर्थशास्त्र में राजस्व की शाखा के रूप में 'हिरण्य' का उल्लेख प्राप्त होता है। लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि अर्थशास्त्र[4] में आम स्रोतों की नियमित सूची में 'हिरण्य' को सम्मिलित नहीं किया गया है।

---

1 एपिग्राफिका इण्डिका 8 संख्या 6.11.15-16 ।

2 कॉपर्स इस क्रिप्शनम इण्डिकेरम - 3 संख्या 26, 1.9।

3 ऐपिग्राँका इण्डिका संख्या 11, 1, 15 वही 7, 1, 15 ।

4 अर्थशास्त्र 2.6 ।

जिससे पता चलता है कि यह एक अनियमित उदग्रहण था। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने राजा की उत्पत्ति की जो कहानी लिखी है उसमें मनु को अपना राजा चुन लेने के बाद लोगों ने अंश के रूप में उपज का छठाँ भाग और व्यापारिक वस्तुओं का 'दसवाँ' तथा 'हिरण्य' देने का वचन दिया है। महाभारत[1] में दशमाँश विहित किया गया है। पतंजलि कहते हैं। 'हिरण्य' राजा को धनवान बनता है। लेकिन वे न तो इस शब्द का प्रयोग किसी विशेष भूमिकर के अर्थ में करते है और न ही उसके भुगतान की कोई दर निर्धारण करते हैं। लेकिन मौर्योत्तर काल के विधि ग्रन्थों में 'हिरण्य' निश्चित रूप से राजा की नियमित राजस्व की एक मद के रूप में सामने आता है। विष्णु[2] और मनु[3] ने दर के रूप में पचासवाँ हिस्सा निर्धारित किया है।

मौर्य-काल में 'उदकभाग' का उललेख 'सिचाई-कर' के रूप में मिलता है। लेकिन विवेच्य काल में सिंचाई-कर से संम्बन्धित किसी ठोस प्रमाण का अभाव है। जिसके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि राज्य ने सिंचाई का उत्तरदायित्व नही लिया था। इसी कारण राज्य द्वारा सिंचाई कर का दावा नही किया गया हैं। मनु ने किसी दूसरे व्यक्ति के मकान, तालाब, उद्यान, खेत आदि के अधिग्रहण का विरोध किया है तथा उनका आदेश है कि अन्य चीजों के साथ अपने तालाब, उद्यान, पत्नी या बच्चे को बेचना भी एक पाप है। जिसका प्रयश्चित तपस्या से होना चाहिए।[4] नारद के अनुसार यदि कोई व्यक्ति बाँध की मरम्मत बिना उसकी

---

1. शतपथ ब्राह्मण- 67.83 ।
2. विष्णु 3.35 ।
3 मनु 7.130 ।
4 मनु 8, 264 ।

मालिक की अनुमति के करें तो वह उससे लाभ लेने का अधिकारी नही होगा।[1] इन उल्लेखों से सिंचाई वाले तालाबों, बाँध जलाशय, आदि पर एक प्रकार का निजी स्वामित्व कर संकेत मिलता है। डियनकीसोस्तोम (50–117 ईसवीं0) से भी यह जानकारी मिलती है कि भारत में बड़ी और छोटी नदियों से पानी लेने के लिए स्थानीय निवासी अनेक नाले निकालते थे।[2]

शक, कुषाण, काल के अनेक उभिलेखों से पता चलता है कि व्यक्तिगत पहल ने शायद महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वर्ष 102 का माउन्ट ब्रज अभिलेख,[3] वर्ष 111 (27ईस्वी0) का पंज-अभिलेख[4] पेशावर म्यूजियम अभिलेख संख्या 21[5] से कुओं में व्यक्तिगत दान का प्रमाण मिलता है। आदिनांकित करनाल-अभिलेख[6] तथा वर्ष 113 के कलदन अभिलेख[7] में व्यक्तियों द्वारा तालाबों के दान का उल्लेख हैं।

इसके विपरीत खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख[8] तथा रूप्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख[9] में राजकीय दिशा के प्रयास का प्रमाण मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य केवल इन बृहत्तर परियोजनाओं को कार्यान्वित करने में अपने साधन खर्च करता था जो व्यक्ति के साधनों से बाहर थी।

---

1. नारद 11, 20 तुलनीय याज्ञ: 2, 157 । उघृत डी0एन0 झा- मौर्योत्तर तथा गुप्त कालीन राजस्व व्यवस्था पृ0 संख्या ।
2 औरेसियों 35,435;1; मैक्रीन्डल ऐन्शियेन्ट इण्डिया ऐज डेस्क्राइव्ड इन क्लासिकल लिटरेचर पृ0175
3 कॉर्पस इसक्रिप्शनम इडिकोरम 2 भाग 1 पृ0 22 ।
4 कॉर्पस इसक्रिप्शनम इडिकोरम 2 भाग 1 पृ0 63 ।
5. कॉर्पस इसक्रिप्शनम इडिकोरम 2 भाग 1 पृ0 155 ।
6 कॉर्पस इसक्रिप्शनम इडिकोरम 2 भाग 1 पृ0 179 ।
7. कॉर्पस इसक्रिप्शनम इडिकोरम 2 भाग 1 पृ0 65 ।
8 एपिग्रफिका इण्डिका 20 संख्या 7, 1, 3 ।
9 कॉर्पस इसक्रिप्शनम इडिकोरम 2 भाग 1 8 संख्यास 6, 11, 9.16 ।

विवेच्य कालीन स्रोत ग्रन्थों से पता चलता है कि खाद्य सामग्री (रसद) के उदग्रहण तथा 'वेगार' आदि भी राजसत्ता के राजस्व के स्रोत थे। मनु[1] का आदेश कि राजा को पशुधन का पचासवाँ हिस्सा लेना चाहिए। पतंजलि ने भेड़ों के झुंड को 'अंविकट' कहा है और उनके अनुसार उनका मालिक राजा के लिए 'अंविकटोरण'[2] नामक एक भेड़ा (भेड़ा) देता है। उपरोक्त कथन के आधार पर यह अनुमान निकाला जा सकता है। कि विवेच्य काल में शायद निम्नदर पर पशुधन के रूप में अभिदाय का प्रचलन था। लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नही कि केवल पशुपालक ही ऐसे भुगतान के भागी थे। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि पशुकर का भार ग्रमीण समुदाय के किसी खास वर्ग पर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण कृषक वर्ग पर था। कौटिल्य[3] ने कच्चे माल आदि में भी अभिदायों का उल्लेख किया है। इसके साथ स्मृतियों में चर्चित जंगली पैदावार आदि में राज्यांश की तुलना की जा सकती है उदाहरणार्थ विष्णु[4] कहते है कि राजा मांस, मधु, घृत, औषधीय जड़ी-बूँटी, गंध-पुष्प, मूल फल, स्वादिस्ट पदार्थ काठ, पत्ते तथा चमड़े का छठाँ हिस्सा ले सकता है। मनु[5] की सूची में घास भी सम्मिलित है। इस प्रकार विधिग्रन्थों में चर्चित अधिकांश वस्तुए जीवन की मुख्य आवश्यकताए है और मनु आदेश देते है कि गाँव के ग्रामिक (मुखिया) को चाहिए की वह ग्राम वासियों द्वारा राजा

---

1. मनु 7. 130-132 ।
2. महाभारत 6, 3.10 "अविकटउरणो दातर्थ विकयेरणः"
3. अर्थशास्त्र 2. 35 ।
4. विष्णु 3.25 ।
5. मनु 3.25 ।

सम्भव है कि राजा था ग्रामिक को दैनिक रूप में चुकाया गया 'राज्य प्रदेय' और उपर्युक्त चीजों के छठे हिस्से का अभिप्राय दो भिन्न तरह के भुगतान नहीं, वरन एक ही चीज रहे हो। एक ही सामग्री पर दो बार कर लगाना न केवल अत्यन्त उत्पीड़क होगा बल्कि अवास्तविक भी है। इसके अतिरिक्त छठे हिस्से की दर परम्परागत अर्थ में प्रयुक्त है ठीक उसी तरह जिस तरह राजा के सामान्य अन्नांश के रूप में बुनियादी भूमि-कर के मामले में हैं। स्मृतियों में अभिदायों का उल्लेख षष्ठांश की दर से देय नियमित कर के अर्थ में हुआ है। स्मृतियों में उल्लिखित मांस, मधु, घृत आदि के रूप में अभिदाय के अन्तर्गत कृषि से सम्बन्ध सीधे-साधे ग्रामीण समुदाय में लगभग सभी धन्धे समाविष्ट हो जाते हैं[1] और प्रत्यक्षतः विधिवेत्ताओं के मस्तिष्ट में यह बात रही होगी कि कृषक आय का कोई भी स्रोत कर से छूटने न पाए। लेकिन व्यवहार में यह आहरण देहात में किस हद तक विभिन्न धन्धों पर कर की तरह लिए जाते थे, यह बहुत अंश तक अनुमान का ही विषय है। इससे कम अनुमानित यह विचार नही है, कि षटठांश की दर मौर्योत्तर काल में कड़ाई से लागू की गयी थीं। इस सब के बावजूद ऐसे अभिदायों के लिए षष्ठांश की दर का उल्लेख केवल पाराम्परिक रिवाजी और प्रतीकात्मक ही रहा होगा। 'भोग' शब्द में सम्मिलित पावनों की प्रकृति को मनु (8.307) की उपर्युक्त टीकाओं से निश्चित किया जा सकता है जिसमें साग-सब्जी, फल-फूल, अन्न आदि के रूप में अभिदाय होता है।

---

1. यू0 एन घोषाल - "कन्ट्रीव्यूशन्स टू द हिस्ट्री आफ हिन्दू रेवेन्यू हिस्सटम पृ0 63"

ऐसा प्रतीत होता है राजा के आय का महत्वपूर्ण स्रोत 'विष्टि' (वेगार) की प्रथा मौर्य काल की भाँति विवेच्य काल में भी जारी रही क्योंकि मनु[1] का आदेश है कि शुद्र, शिल्पी, तथा कारीगर अपने पावने काम करके चुकाते थे। वे यह भी कहते है कि उनसे प्रत्येक माह में एक दिन राजा के लिए काम लेना चाहिए। लेकिन इन सब उल्लेखों के वावजूद विधि साहित्य में ऐसी कोई बात नही है जिससे यह स्पष्ट रूप से दिखाया जा सके कि विवेच्य काल में भी वृष्टि (वेगार) के लिए भुगतान होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि विवेच्य काल में बेगार का भुगतान नहीं मिलता था।[2] इसी कारण विवेच्यकाल के साहित्य तथा पुरालेखीय उल्लेखों में इसे पीड़ादायक बताया गया है। रूद्रदामन के जूनागढ अभिलेख[3] में कहा गया है कि सुदर्शन झील जनता पर अन्य प्रकार के 'कर' और बेगार (वृष्टि)का भार डाले बिना ही केवल राजकोष से निर्मित हुई।

मनु ने कहा है कि शूद्रो शिल्पियों तथा कारीगरो को काम करके ही अपने पावने चुकाने चाहिए। जिसका अर्थ होता है कि वे लोग कर मुक्त थे। लेकिन काल-क्रम में 'कर' न चुकाने वाले कारीगरों को वेगारी के साथ-साथ 'कर' का भुगतान भी करना पड़ा। जिनसे इन लोगों पर स्वभावतः काफी भार पड़ा। कारीगरों से 'कर' वसूली की प्रवृत्ति पहले ही मनु में दिखलाई जा चुकी है। जिसके अनुसार जुलाहे से ग्यारह 'पल' तथा

1. मनु 10.120 । 'कर्मोयकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिन सूतया'
2. मिलिन्दपन्हों पृ0 147 ।
3. ऐपिग्राफिक इन्डिका 8 संख्या 61.15-16 ।

समय पर भुगतान न करने पर 'बारह पल' वसूला जाना चाहिए।[1] शान्तिपर्व में कहा गया है कि कारीगर तथा व्यापारी से उनके शिल्प की दशा तथा स्वरूप को ध्यान में रखकर वसूला जाना चाहिए। 'कर' का निर्धारण उत्पादित सामग्रियों की संख्या के आधार पर तथा वसूली जिन्स में की जा सकती थी[2]

किस-किस अवसर पर वेगार लेना चाहिए शायद यह तय नही था। मुफ्त के मजदूरों को राजकीय खेती तथा राज्य उत्पादन केन्द्रों में लगाना एक सामान्य बहाना रहा होगा।[3] अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि वेगार मजदूर युद्ध कार्य में लगाए जाते थे जहाँपर उनके निम्न कार्य हुआ करते थे। 1. शिविर, सड़क पुल, कुए और नाव की सफाई करना तथा 2. युद्ध के मैदान से मसीन, हथियार, कवच, उपकरण, खाद्य सामग्री (रसद) और युद्ध क्षेत्र से घायल सैनिको की ढुलाई[4] यदि यह प्रथा प्रचलित रही होगी, तो प्रजा पर इससे काफी बोझ पड़ा होगा, क्योंकि विवेच्य काल में युद्ध प्रायः होते ही रहते थे। मौर्योत्तर काल के एक पुरालेख से अनुमान लगाया जा सकता है कि राज्य के द्वारा संचालित जल व्यवस्था सम्बन्धी निर्माण के लिए भी वेगार की आवश्यकता पड़ती थी।[5] मुद्राराक्षस से पता चलता है कि राज्याभिषेक जैसे अवसरों पर भी वेगार ली जाती थी। जो भी हो ऐसा प्रतीत होता है कि वेगार लेने का कोई निश्चित नियम नहीं था कि

---

1. घम्मकोश 1 भाग 3 पृ0 1927 में व्याख्या सग्रह 'स्तेय प्रकरण' पृ0 727-28 ।
2 शान्तिपर्व 88.11-12 क्रिटिकल संस्कारण राजधर्म ने 12 पर टिप्पणी भाग 2 अनुलिपि 19 पृ0 668
3 अर्थशास्त्र 2.7 ।
4 अर्थशास्त्र 10.15 ।
5 एपिग्राफिका इण्डिया 8 संख्या 61.15-16 ।

कब राजा वेगार लेगा कब नहीं लेगा। ऐसी स्थिति में राजसत्ता के दुरूपयोग के लिए काफी गुंजाइस रह गयी थी।

विवेच्य काल अर्थात द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व से द्वितीय शताब्दी ईसवी में राजस्व स्रोत के रूप में वाणिज्य कर का उल्लेख किया जा सकता है, जो भूराजस्व के अतिरिक्त विक्री योग्य सामग्रियों पर राजकीय आय का स्रोत था। विवेच्य काल में स्मृतियों से माल में मौद्रिक मूल्य पर कर-निर्धारण की ध्वनि मिलती है। मनु[1] कहते है कि राजा को पथकर शाला के अनुभवी तथा सभी प्रकार के माल की कीमत का अनुमान लगाने में कुशल व्यक्तियों द्वारा प्रत्येक वस्तु पर आँके मूल्य का बीसवाँ हिस्सा वसूलना चाहिए। याज्ञवल्क्य[2] ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है उनके अनुसार राजा आँके गये मूल्य का बीसवाँ हिस्सा शुल्क के रूप में ले सकता है। इससे प्रतीत कि 'कर' का निर्धारण जिस के रूप में होता था।

'शुल्क' किसी माल के मूल्य पर निर्धारित होता था या उनसे मिले मुनाफे पर यह प्रश्न टीकाकारों में विवाद का विषय रहा है। मनु के पूर्वोक्त[3] अवतरण' का अर्थ मेधातिथि तथा सर्वज्ञनारायण व्यापारिक वस्तुओं की रकम का बीसवाँ हिस्सा बतलाते है वही गोविन्द राज, कुल्लूक तथा राघवानन्द मुनाफे का वीसवाँ अंश स्वीकार करते हैं। मित्रमिश्र अपने 'राजनीति प्रकाश' में कहते है कि यद्यपि मनु के मूल श्लोक में व्यापारिक वस्तुओं के मूल्य के बीसवें हिस्से का उल्लेख है लेकिन इसका अर्थ है कि

---

1. मनु 8.398 ।
2 याज्ञवल्क्य 3.29-30 ।
3 मनु 8. 398 ।

मुनाफे का बीसवाँ हिस्सा है। क्योंकि यदि राजा मूलधन का बीसवाँ हिस्सा लेता तो व्यापारी नष्ट हो जाता।[1] यह आशंका की मूलधन पर कर-निर्धारण व्यापारियों की आर्थिक बरवादी कर सकता है, मनु के एक दूसरे नियम[2] से गलत साबित होता है कि राजा को अन्य चीजों के साथ-साथ अनुमानित मुनाफा तथा लागत पर विचार करने के बाद ही चीजों की बाजार दर निश्चित करनी चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि यदि शुल्क माल के अनुमानित मूल्य पर निर्धारित किया जाता तो इस तरह तय किया जाता कि व्यापारियों के लिए मुनाफे की गुंजाइस बनी रहे। यह तथ्य की व्यापारियों के मुनाफे में भारी क्षति नही हुई थी, मनु के एक दूसरे नियम[3] से भी साबित होता है। इस नियम के अनुसार राजा को क्रय-विक्रय की परिस्थिति, तय की गयी दूरी, रसद पानी पर खर्च तथा माल खरीदने-ढ़ोने में व्यय आदि पर सावधानी पूर्वक विचार करने के बाद ही 'कर' लगाना चाहिए। यह श्लोक शान्तिपर्व में भी इसी रूप में मिलता है।[4] घोषाल के अनुसार[5] यहाँ चर्चित यह विशेष 'कर' व्यापारियों के शुद्ध मुनाफे पर लगाया गया 'कर' है। व्यापारियों पर कर तथा शुल्क निर्धारित करने का सिद्धान्त तथा तरीका चाहे जो भी रहा हो विवेच्य काल में स्रोतग्रन्थों से पता चलता है कि शुल्क राजकीय आय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण मद थी।

पतंजलि[6] ने शुल्क का उल्लेख राज्य की आय के स्रोत के रूप में किया है लेकिन यह एकदम स्पष्ट नही है कि यह 'चुंगीकर' था या 'सीमा

---

1 राजनीति प्रकाश पृ0 164 ।

2 मनु 8.401 ।

3 वही0 7.127 ।

4 शतपथ ब्राह्मण-88.1 ।

5. यू0 एन घोषाल -"कन्ट्रीव्यूशन्स टू द हिस्ट्र आफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ0 85"

6. पतंजलि महाभाष्य-5.1 47 पृ0 351, 1.21 ।

शुल्क या व्यापारिक सामग्रियों पर महज एक समान्य कर। शान्तिपर्व[1] में भी 'शुल्क' का उल्लेख है। एक जातक कथा में व्यापारियों के लिए शुल्क निश्चित करने वाले एक नगर अधिकारी का उल्लेख है।[2] दिव्यावदान में बार-बार व्यापारियों द्वारा दिये जाने वाले 'पशुकर' तथा अन्य शुल्कों की चर्चा मिलती है। मनु[3] ने केवल शुल्क वसूली की दर बताई है यह नही कहा है कि इसे विदेशी या केवल देशी मालों पर लगना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि राजा को अनुमानित मूल्य का बीसवाँ हिस्सा शुल्क के रूप में लेना चाहिए। लेकिन उन्होंने यह नही कहा कि यह सही प्रकार के मालों के लिए लागू है या नहीं।

पुरालेखीय प्रमाणों में रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में 'शुल्क' का उल्लेख राज्य-आय स्रोत के रूप में मिलता है। किन्तु इसमें उसका सही रूप नहीं बतलाया गया है।

इस प्रकार प्रयाप्त आकड़ों के अभाव में शुल्क के उचित अर्थ का अनुमान नहीं हो सकता। किन्तु इतना निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि यह व्यापारियों तथा सौदागरों के माल से वसूल किया गया 'कर' था और इसमें देशी तथा विदेशी दोनों वस्तुओं पर लगने वाले 'कर' सम्मिलित रहे होगें। पुरालेखीय प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते है कि शुल्क पश्चिमी, मध्य तथा पूर्वी भारत में प्रचलित रहा होगा।

---

1 शतपथ ब्राह्मण 72.10 ।
2. जातक 4 पृ0 132 ।
3 मनु 8.39 ।

कौटिल्य[1] ने शराब 'सुरा की चर्चा 1/10 या 1/15 कर देने वाली चीजों की श्रेणी मैं किया है और नशीले चीजों (मद्य) को 1/20 या 1/25 'कर' देने वाली चीजों के दूसरे वर्ग में सम्मिलित किया है। अर्थशास्त्र में 'दुर्ग' शीर्षक के अन्तर्गत राजस्व की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में 'सुरा' शब्द की चर्चा है कौटिल्य पुनः कहते है कि गैर सरकारी मादक पेय पर पाँच प्रतिशत का शुल्क लगाना चाहिए तथा दैनिक विक्री के निरीक्षण के बाद प्रतिकर-शुल्क (वैधरण) तथा क्षतिपूरक शुल्क (ब्याज)[2] भी वसूल किये जाने चाहिए।

किन्तु विवेच्यकाल अर्थात द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व से द्वितीय शताब्दी ई० के बीच के स्रोतग्रंथों के द्वारा शराब पर कर लगाने की सूचना हमें नहीं मिलती। मनु[3] ने तीन तरह को शराब तथा सुरा का उल्लेख किया है जैसे-छोआ चुलाकर बनने वाली 'गौड़ी', चावल का आटा चुलाकर बनायी 'पेष्टी', पुष्प का अगूर या 'मंधु' चुलाकर बनायी गयी 'माध्वी'। किन्तु मनु उनमें किसी पर भी 'कर' की चर्चा नहीं करते। इसके विपरीत कुछ बौद्ध ग्रन्थों में मद्य विरोधी भावना प्रगट की गयी है। 'महावस्तु[4] में स्पष्ट से कहा गया है कि मादक द्रव्य तथा शराब से परहेज करना धर्म है। आर्यसूर ने अपनी जातकमाला[5] में मद्यसेवन की निन्दा घोर दुष्कर्म के रूप में की है, जिसके साथ अनेक दुर्गुण जुड़े है।

---

1 अर्थशास्त्र 2.22

2 वही 02.6।

3 मनु 11.94

4 जे0जे0 जोन्स (अनु) महावस्तु 2 पृ0 96 तुलनीय भट्टस्वामी की व्याख्या जनरल आफ दी विहार एण्ड उडीसा सिसर्च सोइटी 12 भाग 1 पृ0 125 ।

5. जातक माला 17 पृ0 100।

लेकिन हमारे पास यह सिद्ध करने के कोई ठोस प्रमाण नहीं है कि विवेच्य काल मैं मद्यनिषेध की नीति अपनायी गयी थी और उससे राजस्व की छति हुई थी।

वाणिज्य कर के अन्तर्गत 'पथकर', 'घाटकर' या 'नौका भाड़ा' आदि का उल्लेख किया जा सकता है। अर्थशास्त्र[1] 'वर्तनि' का उल्लेख राज्य के प्रवेश के समय सीमा-प्रभारी पदाधिकारी द्वारा वसूल किये जाने वाले 'मार्गकर' के अर्थ में किया गया है यह 'कर' राजमार्ग का उपयोग किये जाने के कारण लगया गया होगा। मौर्योत्तर काल में दक्षिण भारत से 'मार्गकर' के प्रचलन के बारे में पिल्लई ने लिखा है देश के आन्तरिक हिस्सों में प्रधान मार्गो पर राजा के सैनिकों का पहरा था और उन राजमार्गो पर पथ-कर लागाए जाते थे।[2] लेकिन उत्तर-भारत के सम्बन्ध में समकालीन साहित्यिक स्रोतों से पथकर के प्रचलन का संकेत नही मिलता। लेकिन उत्तर भारत से दक्षिण भारत में व्यापार का प्रचलन था ऐसी सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि भले ही उल्लेख न मिलता हो लेकिन पथकर उत्तर-भारत में भी लगता रहा होगा।

मनुस्मृति में 'घाट-कर' की तालिका दी गयी है मनु ने निम्न लिखित दर से धार-कर घाट-कर निर्धारित किया है।

1. खाली गाड़ी 1 पण

2. एक आदमी लायक बोझ 1/2 पण

---

1 अर्थशास्त्र 2.21

2 -------------के0 पिल्लई तमिल एट्टीन हण्ड्रेड ईयर्स एगो पृ0 109 उधृत डॉ0 एम0 झा, 'मौर्योत्तर कालीन तथा गुप्त कालीन राजस्व व्यवस्था' पृ0 85

3. एक जानवर तथा एक नहिला 1/4 पर्ण

4. बिना बोझ का एक आदमी 1/8 पण

5. खाली पात्र तथा बिना असबाव के मनुष्य नगण्य। मनु आगे लिखते है कि नदी तट की सीप में लम्बी दूरी के लिए भाड़ा 'तर' यात्रा की दूरी तथा समय के अनुपात में होनी चाहिए। लेकिन वे समुद्र यात्रा के लिए किसी प्रकार के भाड़े की चर्चा नहीं करते।[1] विवेच्य काल के अन्य किसी स्रोतग्रथ में 'घाटकर' की किसी दर का उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन उनमें से कुछ में उनके प्रचलन का परोक्ष-प्रमाण मिलता है। जैसे विष्णु ने नौकाघाट[2] पा ही भाड़े के भुगतान की चर्चा की है। नारद के एक श्लोक से जिसमें ब्राह्मणों को घाट-कर से मुक्त कर दिया गया है। अभिलेखीय साक्ष्यों में इसवीं सन् की द्वितीय शताब्दी के नासिक गुफा अभिलेख में उषवदात का उल्लेख ऐसे व्यक्ति के रूप में हुआ है जिसने नाव से मुफ्तघाट पार कराने की व्यवस्था की थी। मनु[3] का आदेश है कि दो या अधिक मांह की गर्भवती महिला, साधु, सन्यासी, बनवासी तथा वेदपाठी ब्राह्मणों से 'घाटकर' नहीं लिया जाना चाहिए।

राजकीय आप मैं जुर्मने, लावारिस सम्पत्ति निखतनिधि का भी महत्वपूर्ण योगदान था। 'शान्तिपर्व' के एक अवतरण मे जुर्माना राजकोश की

---

1 मनु 8.404-406 उध्त-डा एन.झा मौर्योत्तर तथा गुप्त कालीन राजस्व व्यय पृ0 संख्या 85

2 नारद 18.38

3 मनु0 8.407 ।

पूर्ति के रूप में चर्चित है।[1] इसी में अन्यत्र स्वर्ण (हिरण्य) या धन के रूप में देय जुर्माना का उल्लेख है।[2] मनु[3] ने भी जुर्माने का उल्लेख राजा के आय-स्रोत के रूप में किया है।

अर्थशास्त्र में 350 तरह के जुर्मानों की चर्चा है[4] नारद ने 60 विधि विरूद्ध कार्यो की गिनती कराई है। मनु ने 64 अपराधों का जिक्र किया है। इन उल्लेखों से किसी नियमित 'कर' का तो पता नहीं चलता लेकिन ऐसा लगता है कि जुर्माने से दण्डनीय अपराधों की संख्या मौर्योत्तर काल में काफी हद तक घट गयी थी।

मनु[5] के अनुसार जहाँ दोषपूर्ण लड़की विवाहार्थी को दे देने के लिए 96 पण के जुर्माने का विधान था वहीं याज्ञवल्क्य[6] के अनुसार उसी तरह के अपराध के लिए उत्तम साहस दण्ड (प्रथम श्रेणी के अपराध के बराबर जुर्माना) था। पुनः मनु[7] के अनुसार क्षत्रिय को बदनाम करने वाले वैश्यों तथा शूद्रों को क्रमशः 25 तथा 12 पण जुर्माना चुकाना था। मनु[8] किसी ब्राह्मणों के साथ जारकर्म (गमन) के अपराधी ब्राह्मण के लिए 500 पण जुर्माना निर्धारित करते हैं। साम्राग्रियों में मिलावट के लिए मनु[9] 200 पण

---

1 शतपथ ब्राह्मण 72.10।

2 वही0 160.68

3. मनु 8.307।

4 गोपाल मौर्य ने पब्लिक फाइनेनस पृ0 132 उघृत डी0एन0झा0 'मौतोत्तर तथा गुप्त कालीन राजस्व व्यवस्था' पृ0-90

5 मनु 8.224

6 याज्ञवलक्य 1.60

7 मनु 8.268

8 मनु 8.78

9 मनु 9.286

का जुर्माना निर्धारित किया है लेकिन याज्ञवल्क्य ने 16 पण ही जुर्माना निर्धारित किया है।

इन उल्लेखों के आधार पर हम यह नही कह सकते हैं कि व्यवहार में इन नियमों के अनुसार जुर्माने लगाये जाते थे। जो भी हो न्यायिक जुर्माने से राज्य को पर्याप्त आय हुई होगी। क्योंकि मनु[1] और याज्ञवल्क्य[2] उसी बात पर बल देते हैं कि कोई भी व्यक्ति राजा के न्यायालय में दण्ड मुक्त नही है भले ही वह राजा का पिता माँ, पत्नी, पुत्र, भाई, कुल-पुरोहित, शिक्षक, श्वशुर या मामा ही क्यों न हो।

लावारिस सम्पत्ति की राज्यगत कर लना राजकीय आय का अन्य स्रोत था। गौतम[3] तथा कौटिल्य[4] ने सम्पत्ति को राज्यगत कर लेने का सुझाव दिया है केवल श्रोतिय ब्राह्मण की सम्पत्ति त्रिवेदस ब्राह्मण को ही मिलती है। नारद[5] तथा याज्ञवल्क्य[6] का विचार है। कि विदेश में मरने वाली व्यापारी का धन उसके वारिस, सगे-सम्बधी या उसके साथ जाने वाले साझेदारों को मिलेगा तथा इसके अभाव में वह धन राजा को प्राप्त होगा। कात्यायन[7] के अनुसार केवल श्रोतिय ब्राह्मण को छोड़कर महिलाओं, नौकर, चाकर तथा श्राद्ध आदि के खर्च के लिए पर्याप्त धन रखने के बाद ही लावारिस मृतक का धन राज्यगत होता है। बौद्ध ग्रन्थ अवदानशतक में एक

---

1 मनु 0-8.335
2 याज्ञवल्क्य 01.358
3 गौतम 28.41-42
4 अर्थशास्त्र 3.5
5. नारद 3.16-18
6 याज्ञ0 2.264
7 कात्यायन श्लोक 931

संतान हीन व्यापारी विलाप करता है कि बहुत धनी होने पर भी वह निःसनतान है और उसकी मृत्यु के बाद उसकी सारी सम्पत्ति दूसरे राजा के पास चली जायगी।[1] दिव्यावदान[2] में एक लावारिस राजा के विलाप का जिक्र है वह आशंकित है कि उकी मृत्यु के वाद उसकी सारी सम्पत्ति दूसरे राजा के पास चली जायगी। इस प्रकार इन उल्लेखों के आधार पर हम कह सकते हैं कि केवल ब्राह्मण की लावारिस सम्पत्ति छोड़कर सभी की ऐसी सम्पत्ति राज्यगत हो सकती थी।

गुप्तनिधि के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में उल्लिखित षष्टाँश पुरस्कर देने की बात से मनु असहमत हैं मनु गुप्तनिधि के प्रति मूल स्वामी के दावे को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यदि कोई व्यक्ति निखतनिधि पर दावा करे और उस पर अपना हक सावित कर दे तो राजा उसे षष्ठांस या द्वादशांस ले लेगा। जबकि झूठे दावेदार को उस विवाद ग्रस्त सम्पत्ति के मूल्य का आठ गुना जुर्माना किया जायगा।[3] यदि कोई श्रोतिय ब्राह्मण गुप्त निधि पाये तो मनु उसे सम्पूर्ण सम्पत्ति ले लेने की अनुमति देते हैं। क्योंकि ब्राह्मण सभी का स्वामी है[4] आगे मनु कहते है क जब किसी राजा को गुप्त निधि मिले तो उसका अर्धाश ब्राह्मणों को दे तथा वाकी अर्धांश अपने राजकोष में भेज दे।[5] मनुस्मृति में उल्लेख है कि भूमि का स्वामी होने के कारण राजा भूमिगत प्राचीन निधि तथा धान का द्वादशांश लने का अधिकारी है।[6] चूँकि कराधान प्रायः सुरक्षा शुल्क समझा जाता था इसलिए

1. अवदान शतक पृ0 13
2 दिव्यावदान पृ0439-440
3 मनु 8. 35-36
4. मनु 8.37
5 वही 38
6 वही 39

यह आसानी से समझा ही जा सकता है कि सभी निखत निधि पर या कम से कम उसमें एक भाग पर तो राजा का अधिकार रहा ही होगा।

मनु[1] का विचार है कि राजा जुआरियों को दण्डित करे। क्योंकि वे अच्छी प्रजा को कष्ट पहुँचाते हैं। यही प्रवृत्ति शान्तिपर्व[2] में दिखाई पड़ती है। नारद स्मृति[3] में कहा गया है कि यदि जुआरी राजा को अंश देकर सार्वजनिक रूप से जुआ खेले तो दोषी नहीं माना जाना चाहिए। याज्ञवल्क्य[4] ने राज्य की देख-रेख में जुआ खेलने की अनुमति इस इस आधार पर दी है कि इससे चोरों का पता चलता है। कात्यायन[5] ने पूर्ण निषेध की बात कही है यदि इसे चलाना है हो तो खुलेआम चलाने की बात कही है जिससे राजा को राजस्व मिलता रहे।

इस प्रकार हम इन उल्लेख के आधार पर कह सकते है कि मनु जुए की मनाही करते हैं वही दूसरे विधि निर्माता इसकी अनुमति देते हैं वशर्ते कि राजा को कर चुका कर खुलेआम खेला जाय।

विवेच्य कालीन ग्रन्थों में न केवल सामान्य काल के लिए योजना प्रस्तुत की गयी है बल्कि राजया राज्य की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति का भी उपबन्ध किया गया है।[6] जैसे कौटिल्य के अनुसार रिक्त कोश की पूर्ति का एक महत्वपूर्ण तरीका प्रजा से 'प्रणय' वसूल करना है लेकिन उसे एक बार से अधिक नहीं वसूलना चाहिए।

---

1 मनु 9.224-228

2. शतपथ ब्राह्मण-89013-141

3 नारद-17.8

4 याज्ञवल्क्य 2.202-203

5 कात्यायन श्लोक 934

6 यू0 एन0 घोषाल "कन्ट्रीब्यूशन्स टू द हिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ0 125

ऐसा प्रतीत होता है कि विवेच्य काल में 'प्रणय का वसूलना बन्द नहीं हुआ था। जूनागढ़ शिलालेख[1] में रूद्रदामन 'प्रणय' तथा अन्य करों से जनता को उत्पीड़ित किये बिना ही सुदर्शन बाँध निर्मित कराने का गर्व व्यक्त करता है। इसका अर्थ यह भी हो सकता था कि 'प्रणय' वसूल करना अवांछनीय माना जाता था और जहाँ तक सम्भव हो सकता था इसको टाला जा सकता था। 'प्रणय का उल्लेख विवेच्य कालीन ग्रंथों में नहीं मिलता हो सकता है कि मौर्योत्तर काल में इसका प्रचलन कम हो गया हो। मौर्योत्तर काल के एक ग्रथ अवदानशतक के अनुसार मगध नरेश के साथ युद्ध में उलझे कोशल नरेश प्रसेनजित की सहायता के लिए एक सौदागार ने स्वर्ण मुद्राओं का ऋण दिया था[2] कौटिल्य के विपरीत मनु 'प्रणय' पर मौन है। मनु[3] के अनुसार कोई राजा आपात काल मैं बिना किसी पाप के फसल का चर्तुथांश भी ले सकता है जिससे स्पष्ट होता है कि कोई राजा वित्तीय संकट में 1/6 भाग के बदले 1/4 भाग भी ले सकता है।

शन्तिपर्व में कहा गया है कि राजा अन्य चीजों के साथ खान के लिए एक अधिकारी नियुक्त करना चाहिए। इससे खान पर राजा का नियंत्रण सिद्ध होता है[4] मनु ने भी खान का उल्लेख राजस्व के साधन के रूप में किया है जिसके लिए राजा द्वारा विश्वासी अधिकारी की नियुक्ति होनी चाहिए।[5]

---

1 एपिग्राफिक इण्डिया 8 संख्या 6, 1.15-16
2 अवदान शतक पृ0 56
3 मनु 10.118
4. शतपथ ब्राह्मण 69.29
5. मनु 7.62

शन्तिपर्व[1] में आदेश है कि राजा नमक के पर्यवेषणार्थ ईमानदार तथा निश्वासी व्यक्तियों की नियुक्ति करें। सातवाहन नरेश गौतमी पुत्र शतकर्णी (124ई0) के नासिक गुहालेख में 'अलोणखादम्' शब्द मिलता है। इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यभूमि जंगल जानवर आदि राजकीय स्रोत बने रहे होगें।

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि राज्य के राजस्व का प्रधान स्रोत 'भूमिकर' (मालगुजारी) था। राजा के लिए इसकी दर सम्भवतः षष्ठांश थी। यद्यपि मौर्य काल में यह चतुर्थांश थी। आलोचित काल में 'बलि', 'भाग', तथा 'कर' का उल्लेख भूराजस्व की मद के रूप में हुआ है। 'बलि' जो विभिन्न ग्रथों में व्यवहत राजस्व शब्द का बोधक प्राचीनतम शब्द है। स्मृतियों में बुनियादी भूमिकर (मालगुजारी) के रूप में उल्लिखित है। दूसरा शब्द 'भाग' जो सर्वप्रथम अर्थशास्त्र में ही मिलता है। रूद्रदामन का जूनागढ़ ही मात्र एक ऐसा अभिलेख है, जिसमें 'बलि' और 'भाग' का अन्तर किया गया है। विवेच्यकाल के अन्य सभी अभिलेखों में 'भाग' प्रायः बुनियादी भूमिकर के अर्थ में ही अविच्छिन्न रूप से व्यवह्रत हुआ है। गैर पुरालेखीय स्रोतों में इसका बोध 'बलि' शब्द द्वारा होता है टीकाकारों के अनुसार 'कर' का सम्बन्ध भूराजस्व से था। 'हिरण्य' नामक 'कर' जो शायद नगद में वसूला जाता था मौर्यकाल से ही वसूला जाता था मौर्यकाल से ही बहुत अधिक प्रचलित था। 'भोग' का सम्बन्ध शायद रसद सामग्री विधिग्रथों में शूद्र, शिल्पियों तथा कारीगर से अपेक्षा की जाती थी कि 'कर' भुगतान के बदले अपनी निःशुल्क सेवा दे। वाणिज्य, जुमार्ने, लावारिश सम्पत्ति गुप्तनिधि, लूटका माल, और 'कर' (खिराज), राज्यभूमि, जंगल, खान आदि राज्य की आय के प्रमुख स्रोत थे।

---

1 शतपथ ब्राह्मण-69-29

उपसंहार

'उपसंहार'

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से द्वितीय शती ईसवी के मध्य का काल शुंग तथा विदेशी आक्रमणकारी-शक-सातवाहन और कुषाणों के आगमन और शासन का काल था। इस समय शुंग उत्तरी भारत में सातवाहन दक्षिणी भारत में तथा विदेशी आक्रमणकारी, पश्चिमी भारत की सीमा पार करके इस देश में उत्तर तथा दक्षिण-पश्चिम से प्रवेश करने लगे थे। इस समय देश में एकछत्र राजसत्ता का अभाव था। एकछत्र राजसत्त के अभाव के कारण आर्थिक-व्यवस्था राज्य नियंत्रित नहीं रह गयी थी। केन्द्रीकृत व्यवस्था के अभाव के कारण अब राजा की जगह व्यक्तिगत स्वत्व की प्रधानता थी। इस परिवर्तित स्थिति के कारण आर्थिक व्यवस्था परम्परागत लीक से उतरकर अब दो रूपों में दिखाई देती है-व्यक्तिगत और क्षेत्रीय।

विवेच्य कालीन भूस्वामित्व से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्यिक, अभिलेखीय, स्रोतों की समीक्षा से जो सामान्य निष्कर्ष हमारे सामने आता है, वह कुछ स्वरोधी और सरलीकृत लगता है। लेकिन उपलब्ध समस्त साक्ष्य इसी ओर इंगित करते है कि भूमि पर राजा और प्रजा दोनों का अधिकार था। सैद्धान्तिक पक्ष के अनुसार भूमि पर राजा का अधिकार होता था। लेकिन कृषि के व्यवहारिक-पक्ष की समीक्षा के बाद पता चलता है कि भूमि अलग-अलग व्यक्तियों के अधिकार में थी। जिसका वे स्वेक्षा पूर्वक उपभोग तथा आदान-प्रदान कर सकते थे। भूमि व्यवस्था में जहाँ तक भूमि विभाजन का प्रश्न है तो विवेच्य-कालीन स्रोतग्रंथों में भूमि विभाजन के बारे में कोई निश्चित सूची नहीं मिलती। हाँ साक्ष्यों में भूमि

के उपजाऊपन एवं अनुपजाऊपन के बारे में उल्लेख जरुर मिलता है। जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि भूमि का विभाजन उसकी उपयोगिता तथा उपजाऊपन को ध्यान में रखकर किया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व काल तक विभाजन के जो भी प्रकार थे वक इस काल में भी जारी रहे होंगे।

भूमि अनुदान के सम्बन्ध में बहुत अल्प जानकारी मिलती है। भूमिदान का उद्देश्य पूर्णतः धार्मिक था। भूमि दानकर्त्ता स्वयं अपने तथा अपने पूर्वजों तथा पारिवारिक सदस्यों के अध्यात्मिक कल्याण के लिए, धर्म के काम में वृद्धि के लिए भूमि का दान करते थे। मन्दिरों, मठों, बौद्ध-विहारों को इसलिए भूमिदान दिया जाता था कि वे धार्मिक तथा शैक्षिक-कार्य करके दीन दुखियों की सहायता कर सकें। अभिलेखीय प्रमाणों से पता चलता है कि व्यापारिक तथा धार्मिक कृत्यों के लिए जमीन बेची जाती थी।

मौर्योत्तर काल तक आते-आते कृषि के क्षेत्र में काफी प्रगति हो चुकी थी। यद्यपि विवेच्य काल में पूर्वकाल अर्थात् मौर्यकाल के समान कृषि के बड़े-बड़े फार्मो के बारें में हमें कोई सूचना नही मिलती। न ही 'सीताध्यक्ष' जैसे किसी 'अध्यक्ष' का ही उल्लेख प्राप्त होता है। फिर भी इस समय क्षेत्रीय प्रयासों ने कृषि व्यवस्था के विकास को अग्रसर रखा। जिससे अतिरिक्त उत्पादन सम्भव हो सका; तथा जिसने देश की अर्थव्यवस्था को विकासशील से विकसित तक पहुँचाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। विवेच्य काल में कृषक, कृषि से सम्बन्धित विभिन्न उपकरणों का प्रयोग करते थे जिनका उल्लेख इस काल के स्रोतग्रंथों में मिलता है। उत्खनन से प्राप्त सामग्री से भी जिसकी पुष्ठि होती है। हल, (इसे कुलिय या नांगल भी कहा जाता है) कुदाल, फावड़ा (मनु ने इसे

महत्ता की दृष्टि से हल की कोटि में रखा है) सिरकप के उत्खनन से आधुनिक ढंग के फावड़े के अवशेष मिले है) हँसिए, (तक्षशिला के उत्खन्न से दो प्रकार के हंसिऐ के अवशेष मिले हैं) का उल्लेख किया जा सकता है। मनु ने ओखली, मूसल सूप, चूला, शिल-बट्टे झाडू, पानी के घड़े, चलनी, तथा सामान एवं अनाज ढ़ोने के लिए बैलगाड़ी आदि विवेच्य कालीन कृषको के उपकरण का उल्लेख किया है।

इससमय कृषक, कृषि की प्रारम्भिक अवस्था भूमि की जुताई, (विलेखन) बुआई, निराई, गुड़ाई, कटाई, मड़ाई, आदि व्यवस्थित ढ़ग से करने लगा था। भूमि को क्षेत्र, उसर, गोचर इत्यादि में विभाजित किया जाता था। पतंजलि ने खेतों का नामकरण फसलों के आधार पर किया है। उत्तर-भारत में फसलों में उत्पादन बढ़ाने के लिए गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था। इस काल की महत्वपूर्ण फसलों की खेती के प्रमाण मिलते हैं। सुश्रुतसंहिता में गेहूँ, की दो किस्मों ('मधूलिका' एवं 'नदीमुखी'), अच्छे चावल की पन्द्रह किस्मों, तृणधान्यों में कोदव का उल्लेख मिलता है चरकसंहिता में नारंगी, कमरण, ईख, कपास की खेती का उल्लेख मिलता है। दीघनिकाय में असली और सन का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त फलों, मसालों, दालों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

सिंचाई के लिए कुओं, तालाबों तथा नहरों आदि का प्रयोग किया जाता था मनु ने सहकारी प्रयत्न की ओर संकेत किया है। राज्य द्वारा सिंचाई की तरफ ध्यान दिया जाता था जिसकी पुष्टि रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख तथा खारबेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से होती है।

विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतों से यह पुष्ठ है कि सम्पूर्ण उत्तर भारत में व्यवसायिक श्रेणियों का इस काल में सधन प्रसार हुआ जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वाणिज्य-व्यवसाय ही जीविकोपार्जन का प्रधान-स्रोत था तथा इसकी समृद्धि में ही इस काल में आर्थिक-जीवन का सर्वस्व था। दीघनिकाय में दो दर्जन व्यवसायों का उल्लेख मिलता है महावस्तु में राजगृह में रहने-वाले छत्तीस तरह के कामगारों की सूची मिलती है। मिलिन्दपञ्हों में पचहत्तर व्यवसायों की गड़ना की गयी है। जिसमें 60 विभिन्न शिल्पों से जुड़े थे। इस काल के महत्वपूर्ण उद्योगों में वस्त्र उद्योग, धातु उद्योग, वस्तुकला, काष्ठ-उद्योग, मिट्टी के सामान तथा मूर्ति-कला, चर्म उद्योग शीशे का सामान, रंगाई, हाथी के दाँत का काम करने वालों के बारे में प्रमाण मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि विवेच्य काल में बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धों का विकास हो चुका था।

विवेच्य काल में इन शिल्प संघों के संगठन के बारे में भी सूचना मिलती है। जिन्हें श्रेणी, पूग निगम, सार्थ कहा जाता था। इस काल में श्रेणी संगठन की व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। विवेच्य काल में ही सर्वप्रथम श्रेणी-संगठनों ने अपने रीति रिवाजों एवं नियमों आदि को व्यवस्थित तथा निश्चित करके उन्हें एक संविधान का रूप दिया। जिसे राज्य द्वारा भी मान्यता प्राप्त थी। मनु, याज्ञवल्क्य विष्णु, महाभारत आदि ने किसी न किसी रूप में उनके नियमों का उल्लेख किया है। उनकी न्यायिक निष्पक्षता तथा कार्य-कुशलता को ध्यान में रखते हुए राज्य ने उन्हें न्यायालय के रूप में कार्य करने के लिए मान्यता प्रदान की थी। श्रेणियां बैंकों के रूप भी कार्य करती थी। इनकी साख इतनी अच्छी थी कि राजा लोग भी इनके पास धन जमा करते

थे। श्रेणियों को अपनी सेना रखने की भी अनुमति प्रदान की गयी थी। श्रेणियों के अपने सिक्के होते थे।

इस काल में आर्थिक जीवन में जो सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई पड़ता है वह यह है कि इस काल में नगरों की संख्या में वृद्धि हुई। वैसे शहरी जीवन का प्रारम्भ तो ईसा पूर्व छठी शताब्दी के लगभग शुरु हुआ था। किन्तु विवेच्य-काल में वह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा। पुरातात्विक उत्खननों से हमें औधोलिखित स्थानों पर नगरों के ध्वंशावशेष प्राप्त हुए हैं कुरुक्षेत्र में राजा कर्ण का टीला, नई दिल्ली का पुराना किला, राजस्थान के नोह, उत्तर प्रदेश के हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा कौशाम्बी, सोख (मथुरा), पिपरहवा, राजघाट, मैसन (गाजीपुर) बिहार के चिरांद और वैशाली तथा कुम्रहार, उड़ीसा के शिशुपालगढ़ आदि। इस काल में केवल मध्य गंगा के मैदानों में ही नहीं, बल्कि पूर्वोत्तर हिस्सों को छोड़कर सारे देश में नगर बस गये।

विवेच्य काल में बिहार के चम्पा, पाटलिपुत्र, वैशाली और चिरांद की स्थिति शिल्प और व्यापार की दृष्टि से काफी अच्छी थी। वैशाली में शिल्पियों और कारीगरों की बड़ी संख्या में मुहरें मिली हैं जो कि गुप्त काल की मानी जाती है किन्तु अच्छरों को देखने से ऐसा लगता है कि उसमें कुछ पूर्व गुप्त काल की भी हैं। इस काल में भवन निर्माण के तरीकों में परिवर्तन आया। मथुरा और पूर्वी उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के 'गनवरिया' में चूना मिश्रित ईंट के टुकड़े से फर्श बनता था। इसमें सुर्खी का प्रयोग दिखाई पड़ता है। पाटलिपुत्र वैशाली, चिराद में कुषाण कालीन पक्की-ईंटों के मकान मिले हैं। उत्तर प्रदेश के नगरों की भी यही अवस्था है। खैराडीह, राजघाट, (वाराणसी) श्रावस्ती कौशाम्बी,

अतरंजीखेड़ा और मथुरा में विवेच्यकाल के भौतिक जीवन के अवशेष मिले हैं। रामशरण शर्मा ने अपनी पुस्तक **'अर्वनडिके'** में सवा सौ से अधिक उत्खनित स्थलों का उल्लेख किया है।

अधिकांश नगरों की व्यापारिक मार्गो पर स्थिति तथा व्यापार उद्योग को चलाने के निमित्त प्रभूत-संसाधन से युक्त होने के कारण, इन नगरों में शिल्प श्रेणियों तथ देशी-विदेशी व्यापारियों के आवागमन की गति तीव्र हो उठी। सम्पूर्ण उत्तर-भरत में व्यवसायिक उत्पादन को केन्द्र में रखकर सम्पूर्ण उत्पादकता के क्षेत्र में परिवर्तन एवं समृद्धि के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। जिसके आलोक में न केवल इन बाजारों का नवीन स्वरूप सामने आया बल्कि इन नगरों से होने वाले आयात-निर्यात के व्यौरे से समकालीन आर्थिक जीवन एवं उनमें वाले परिवर्तन का स्पष्ट चित्र परिलक्षित होता है।

इस काल में चावल गेहूँ जैसी खाद्यान्न फसलों के स्थान पर कपास, सन, अलसी, ईख जैसी व्यवसाय की दृष्टि से उपयोगी, नगदी फसलों, की कृषि किये जाने का उदाहरण प्राप्त होता है इसीलिए रोमिला थापर लिखती हैं कि इसका अर्थ यह नहीं है कि आर्थिक क्रिया-कलाप केवल व्यापार तक ही सीमित थे अथवा कृषि की अवनति हो गयी थी। इसके अतिरिक्त काष्ठकार, लोहार, दस्तकार जैसे तकनीकी शिल्पियों की उपस्थिति सीधे कृषि से इनके सम्बन्धों को जोड़ता है। तिलपिसकों एवं बनुकरों का तो अस्तित्व अलसी, कपास एवं सन जैसी फसलों की उपलब्धता पर निर्भर करता था, जो परोक्ष रूप से इन नगरों की व्यापारिक समृद्धि एवं आर्थिक जीवन की प्रगति से सम्पृक्त है। जिनके फलस्वरूप रोम के साथ स्थापित व्यापारिक सम्बन्धों में अधिक सुदृढ़ता स्थापित

हुई तथा अधिकाधिक पूँजी का आगमन व्यापारियों के आवागमन के परिणाम स्वरूप हुआ।

रोम के साथ व्यापारिक सम्बन्धों की पुष्टि, अयोध्या में खुदाई के दौरान जिन स्तरों पर 'चक्लिा' (रूलेटेड) मृदभाण्ड (मुख्यतः विध्यपार क्षेत्र में पाये जाने वाले खास तरह के रोमन मृदभाण्ड) के ठीकरे मिले हैं। जिनका समय पहली या दूसरी शदी माना जाता है। शायद यह उत्तर-भारत का सबसे अधिक अन्तर्देशीय स्थान है, जिसमें यह मृदभाण्ड मिलता है। यह पहले ताम्रलिपि से गंगा, फिर सरयूनदी होकर इस क्षेत्र में आया होगा। इसी प्रकार पालिशदार मृदभाण्ड के कुछ ठीकरे (जो पश्चिमी भारत के साथ ही कुषाणों की विशेषता के सूचक हैं) कर्नूल जिले के अन्तर्गत 'सतनिकोट' में मिले है। जो पहली से तीसरी सदी के बीच के हैं इसमें खरोष्ठी लिपि में अभिलेख खुदे हैं। इससे आन्ध्र और उत्तर भारत के बीच व्यापार का संकेत मिलता है। मथुरा में एक देवी की मूर्ति मिली है जो गांधार के नीले पत्थर से निर्मित है इसमें यूनानीबौद्धदुशाला शैली की छाप है। इससे मथुरा और गांधार के बीच व्यापार की पुष्टि होती है।

आर्थिक दृष्टि से इस युग की सबसे बड़ी बात यह हुई कि दक्षिण भारत और रोम के बीच समृद्ध व्यापार चलता रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि शुरू में यह व्यापार स्थल मार्ग से होता था किन्तु पहली सदी ईसवी में शकों पहलवों, कुषाणों की गतिविधियों ने इस व्यापार का अन्त कर दिया। कुषाण युग में कुछ, हेर-फेर हुआ। इतिहास में पहली बार गंगा से मध्य एशिया जाता हुआ यह महापथ एक राजसत्ता के अधीन हो गया। पहली सदी ईसवी में व्यापार समुद्र मार्ग से होता था। हिम्पालस द्वारा समुद्री हवाओं की जानकारी देने से यह काम

आसान हो गया। अब वे भारत के भृगुकच्छ, अरिकामेडु और तक्षशिला के बन्दरगाहों पर एकत्र हो सकते थे। रोमवासी मुख्य रूप से दक्षिण भारत से मसालों तथा मध्य भारत एवं दक्षिण भारत से मलमल, मोती, माणिक्य का भी आयात करते थे जो संगठित व्यापार के अंग थे क्योंकि ये उत्पादित करके भारत से सीधे भेजे जाते थे। रेशम मालाबार के बन्दरगाहों से होता हुआ पश्चिमी बन्दरगाहों की जाता था जिसके बदले रोम से सुराहीनुमा मदिरा पात्रों (एम्फोरा) और लाल चमकीले ऐरेटाई मृदभाण्डों का निर्यात करते थे। ये सभी वस्तुएं अरिकामेडु की खुदाई में मिली है। यूनान तथा पूर्वी एशिया से भी भारत का व्यापार होता था। भारत से विदेशों को भेजी जाने वाली सामाग्रियों में मुख्यत: कस्तूरी, हाथीदांत की समाग्रियाँ, वस्त्र अन्न कपूर, मसाले, कच्ची रुई, लाख, ऊन, कश्मीर के बने ऊँनी वस्त्र, बहुमूल्य मणि माणिक्य, तलवारें तथा नीबू, नारियल, बेर, आदि फल और शीशम तथा चन्दन की लकड़ियाँ, तीतर, तोता-चकोर आदि पक्षी और कुत्ते तथा शेर आदि पशु थे। इनके बदले में भारत में विदेशों से सोने के सिक्के जो प्राय: रोम से आते थे। रोम के घोड़े, यूनान की दासियाँ (जिनका उल्लेख तमिल ग्रंथों में है) भारत आती थीं। यही कारण है कि भारतीयकला में यूनानी महिलाएं शराब पान करते हुए अंकित हैं। चीन का रेशमी वस्त्र भारत में प्रसिद्ध था, वे इसे विदेशी व्यापार के लिए भारत तथा पश्चिमी देशों को व्यापार के लिए भेजते थे।

रोमवासी भारी मात्रा मं सोने, चांदी के सिक्कों का निर्यात करते थे ह्वीलर को दक्षिण भारत प्रायद्वीप से रोमन सिक्कों की अनेक मुद्रा निधियाँ मिल चुकी है। अब तक रोमन सिक्कों की 129 संग्रहों की सूचना मिल चुकी है।

इनमें अधिकांश प्रायद्वीप भारत से मिले हैं। जो प्लिनी के शिकायत की पुष्टि करते हैं। उत्तर भारत में यूनानियों ने सोने के सिक्के जारी किये। कुषाण काल में भी भारी मात्रा में सोने के सिक्के जारी किये गये थे जिसका प्रधान कारण यह था कि दालभूमि कुषाणों के अधिपत्य में थी।

पतंजलि ने दैनिक मजदूरों को निष्कों की अदायगी का उल्लेख किया है जो सम्यवतः सोने के नही थे इस सम्बन्ध में लेड या पोटिन का उल्लेख किया जा सकता है उत्तर तथा उत्तर पश्चिम भारत से भी यही निष्कर्ष निकलता है। कुषाणों ने लेखा की दृष्टि से ताँबे के सिक्के सबसे अधिक जारी किये। मथुरा से जारी किये हुए सिक्के अभी तक नहीं मिले हैं।

इस प्रकार यह संकेत मिलता है कि शहरों और उनके आस-पास के जीवन में मुद्रा अर्थव्यवस्था में जितनी गहराई तक इस युग में प्रवेश कर चुकी थी उतनी शायद किसी अन्य युग में नहीं, ऐसा कला कौशल की समृद्धि और रोम के साथ बढ़ते व्यापार के अनुरूप है

विवेच्य काल में प्रायः सभी धर्मशास्त्रकारों ने शास्त्रानुसार कर लेने की बात कही है स्रोत ग्रंथों के अनुशीलन से पता चलता है कि भाग, बलि, कर, हिरण्य, शुल्क आदि राजस्व के स्रोत थे। 'भाग' कृषिकर था। जिसको नियमित वसूला जाता था जो सामान्यतया छठाँ भाग होता था। 'बलि' को अश्वघोष ने नियमित 'कर' माना है। जबकि मिलिन्दपञ्हों में इसे संकटकालीन 'कर' कहा गया है। जूनागढ़ अभिलेख में इसे 'कर' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। कुछ अभिलेखों में इसे 'धार्मिककर' के रूप में उल्लिखित किया गया है। 'शुल्क'

सामान्य या 'उद्योग-कर' था। विशिष्टकर वह कर था जिसको दास, कलाकार, मजदूर कर के बदले श्रम में देते थे। कुषाण काल में विशिष्टकर नियमित कर के स्थान पर लागू था। अक्षयनीवी कुषाण कालीन का था। खाद्य सामग्री के उदग्रहण, वेगार आदि से भी राज्य की आय होती थी। राज्य की समस्त सम्पत्तियों पर राजा हिस्सा लेता था कारीगरों पर भी कर लगाया जाता था। शुल्क किसी माल के मूल्य पर निर्धारित किया जाता था। इस काल के प्राय: सभी व्यवस्थाकारों ने मूल्य का अनुमान लगाकर ही कर निर्धारित करने का विचार व्यक्त किया है।

वाणिज्यकारों में पथुकर, घाटकर या नौकाभाड़ा आदि का उल्लेख किया जा सकता है इसके अतिरिक्त जुमाने, लावारिस सम्पत्ति, निखतनिधि, जंगल, जानवर आदि राज्य की आय के प्रमुख स्रोत थे। कुषाण-काल में कर वसूलने वाले अधिकारियों जैसे अन्त:पाली, शौलिक्क, शुल्काध्यक्ष आदि के बारे में सूचना मिलती है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि विवेच्यकाल में राजस्व के रूप में यदि इन करों का उदग्रहण किया जाता रहा होगा तो निश्चय ही ये कष्टकर रहे होंगे।

विवेच्य काल में अपंग, अधें, पागल, दीवालिया बालक, वृद्ध कर मुक्त थे। ब्राहमणों पर तभी कर लगाया जाता था जब वह समाज में भेदभावपूर्ण कार्य करें।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

मूल ग्रन्थ

अर्थशास्त्र — कौटिल्य कृत (सम्पा0 एवं अनु0) आर0पी0 कांगले तीन जिल्दों में, बम्बई 1965, 1969, 1972
(सम्पा0) शाम शास्त्री, आर0 मैसूर 1924

अमरकोश — अमर सिंह कृत भट्ट क्षीर स्वाप्रिन भाष्य सहित (सम्पा0) ए0डी0 शर्मा तथा एन0जी0 सरदेसाई, पूना-1941, गुरु प्रसाद शास्त्री वाराणसी-1950

ऋग्वेद संहिता — चौखम्बा संस्कृत सीरीज 1966, अनु0 आर0टी0एच0 गिफिथ बनारस 1926

कात्यायन स्मृति — (सम्पा0 एवं अनु0) पी0वी0 काणे-बम्बई 1933

कशिका — वामन जयादित्व कृत (सम्पा0) आर्येन्द्र शर्मा तथा अन्य, दो जिल्दो में, हैदराबाद-1969

गौतम धर्मसूत्र — (सम्पा0) एल0 श्री निवास आचार्य, मैसूर 1917 (अनु0) जी0 ब्यूलर, एस0वी0ई0 आक्सफोर्ड 1979

चरक संहिता — (सम्पा0) जे0 विद्यासागर, कलकत्ता 1896 (अनु0) ए0सी0 कविराज, कलकत्ता 1902

छान्दोग्य उपनिषद — (सम्पा0) हरिनारायण आप्टे, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज पूना-1970

जातक — (सम्पा0) वी0 फासवाल, लन्दन 1977-97 (अनु0) ई0बी0 काबेल और अन्य कैम्ब्रिज, 1895-1913

जातकमाला — आर्यशूर कृत (सम्पा0) पी0एल0 बैद्य बुद्विस्ट संस्कृत टेक्स्ट्स संख्या 21 दरभंगा 1959

दीर्घनिकाय — (सं0) रीज डेविड्स और कार्पेन्टर लन्दर, 1890-1999
हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, वाराणसी-1936

दिव्यावदान — (सम्पा0) ई0वी0 कावेल और ए0ए0 नौल, कैम्ब्रिज 1886

नारद स्मृति — असहाय कृत भाष्य सहित (सम्पा0) जुलियस याली, कलकत्ता 1885 (अनु0) सेकेड बुक ऑव द ईस्ट जिल्द 33, आक्सफोर्ड 1889 (पुर्नमुद्रण दिल्ली 1977)

बृहदजातक — बराहीमहिर कृत भट्टोत्पल भाष्य सहित (सम्पा0) सीताराम झा, बनारस 1934 (अनु0) वी0 सूर्यनारायण राव (सम्पा0) वी0वी0 रमन, बंगलोर 1957

वृहत्संहिता — बराहमिहिर कृत भट्टोत्पल भाष्य सहित (सम्पा0) सुधासकर द्विवेदी दो जिल्दों में बनारस 1895-97 एच0 कर्न विब्लियोथेका इण्डिका, कलकत्ता 1865, अच्युतानन्द झा, वाराणसी 1977

बृहद कल्पसूत्र — भट्वाहु कृत (सम्पा0) एच0 जैकोबी लिपजिंग 1879

बुद्धचरित — अश्वघोष कृत(सम्पा0) ई0एच0 जान्सन, कलकत्ता 1936, (अनु0) ई0वी0 कावेल एस0वी0एफ0 आक्सफोर्ड 1894

बृहस्पतिस्मृति — (सम्पा0) के0वी0आर0 आयगर, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा 1941

भगवद्गीता — (सम्पा0) एस0के0 वाल्वल्कर, पूना 1945 (अनु0) के0टी0 टेलंग एस0वी0ई0 आक्सफोर्ड 1908

मनुस्मृति — कुल्लूक कृत भाष्य सहित (सम्पा0) प0 गोपाल शास्त्री नेने, वाराणसी 1970, भारूचि कृत भाष्य सहित (सम्पा0) जे0ही0एम0 हेरेट, दो जिल्दों में बीसबैडेन 1975 मेधा तिथि कृत भाष्य सहित (सम्पा0) जी0एन0 झा, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल 1932 (अनु0) जी0एन0 झा, कलकत्ता 1922-29

महाभारत — (सम्पा0) वी0एस0 सुक्थकर एवं एस0के0 वेल्वल्कर भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना 1927-66 हिन्दी अनुवाद सहित गीता प्रेस गोरखपुर (तृतीय संस्करण) संबत 2026

महाभाष्य पतंजलि कृत (सम्पा0) एफ0 कीलहार्न, बम्बई 1892-1902

महावस्तु — (सम्पा0) ई0 सेनार्ट, तीन जिल्दो में, पेरिस, 1982-97 (अनु0) जे0 जे0 जोन्स, लन्दन-1949

मिलिन्दपन्हों — (सम्पा0) वी0ट्रेंकनर, लन्दन 1880 (अनु0) टी0डब्लू0 रायस डेविड्स एस0वी0एफ0 आक्सफोर्ड 1890-97

याज्ञवल्क्य स्मृति — मिताक्षरा भाष्य सहित (सम्पा0) नारायण शास्त्री, चौखाम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी (अनु0) उमेशचन्द्र पाण्डेय द्वितीय संस्करण वाराणसी 1977

रामायण (सम्पा0) रघुवीर, लाहौर 1938, (अनु0) एम0एन. दत्त कलकत्ता, 1892-94 आर0 ग्रीफिथ वनारस 1915

विष्णु स्मृति नन्दपण्डित कृत भाष्य सहित (सम्पा0) जुलियस याली, विब्लियोथेका इण्डिका, कलकत्ता-1881 (अनु0) सेकेड बुक ऑव द ईस्ट जिल्द सात 1880.

शतपथ ब्राहमण (अनु0) जे0 इजिटिंग, आक्सफोर्ड 1882 अश्वघोष कृत (सम्पा0) एवं अनु0 ई0एच0 जानसन, लन्दन 1928-28

सुश्रुत संहिता (सम्पा0) जे0 विद्यासागर, कलकत्ता 1889

विदेशी यात्रियों के विवरण

एरियन हिस्ट्री ऑव अलेक्जेण्डर एण्ड इण्डिका, (अनु0) ई0 इटिक राब्सन लन्दन, न्यूयार्क 1833

गाइल्स एच0ए0 द ट्रैवेल्स ऑव फाहयान अथवा रेकार्डर्स ऑव बुद्धिस्टिक किंग्डम्स कैम्ब्रिज 1923

पेरीप्लस ऑव द इरिर्थियन सी (सम्पा0 एवं अनु0) डब्लू0एच0 स्काफ न्यूयार्क लन्दन, बम्बई कलकत्ता 1912

प्लिनी नेचुरल हिस्ट्री (अनु0) एच0 राखेम एवं अन्य लन्दन, कैम्ब्रिज 1942-61

मैक्रिंडेल जे0डब्लू एन्सिएण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन

मजूमदार आर0सी0 द क्लासिकल एकाउन्टस ऑव इण्डिया कलकत्ता 1960

स्ट्रैबो ज्योग्रफी (सम्पा0 एवं अनु0) इ0एल0 स्टीवैन्सन न्यूयार्क 1932

अभिलेख मुद्रा

प्लीट, जे0एफ0 कार्पस इंस्क्रिप्शंस इण्डिकेरम, जिल्द ।।। इंस्क्रिप्शंस ऑव द अर्ली गुप्ताज किक्स एण्ड देअर सक्सेसर्स (तृतीय संशोधिक संस्करण) वाराणसी 1970

बरुआ, एच0 एवं सिन्हा, जी0 भरहुत अभिलेख कलकत्ता 1926

सरकार, डी0सी0 इण्डियन एफिग्रेफिक ग्लोसरी, वाराणसी 1966 सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस वियरिंग आन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन, प्रथम जिल्द (द्वितीय संशोधित संस्करण) कलकत्ता, 1965 द्वितीय जिल्द, दिल्ली 1983

मुखर्जी आर0आर0 एवं मैती, एस0के0 (सम्पा0) कार्पस ऑव बंगाल इंस्क्रिप्शंस कलकत्ता 1967
एलन जे0 ऐन्शियेण्ट इण्डिया लन्दन 1967 पुर्नमुद्रण ए कैटलॉग ऑव द इण्डियन क्वायन्स इन द ब्रिटिश म्यूजियम।
कनिंघम, ए0 क्वायन्स ऑव ऐन्शियेण्ट इण्डिया फ्राम द अर्लिएस्ट टाइम्स डाउन टू द सेवेन्थ सेन्चुरी ए0डी0, लन्दन 1891
गार्डनर, पी0 द क्वायन्स ऑव द ग्रीफ एण्ड किंग्स ऑव वैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, लन्दन 1886
चट्टोपाध्याय बी0 ए एज ऑव द कुषाणाज, ए न्यूमिस्मेटिक स्टडी, कलकत्ता 1967
गुप्ता, पी0एल0 क्वायन्स-नई दिल्ली 1969

गौण-स्रोत

अग्निहोत्री, प्रभुदयाल पतंजलि कालीन भारत; 'पटना' 1963
अग्रवाल, वी0एस0 पाणिन कालीन भारत;
अच्छेलाल प्राचीन भारत में कृषि, वाराणसी 1980
अल्तेकर ए0एस0 एजूकेशन इन ऐन्शिएट इण्डिया (सप्तम संशोधित संस्करण) वाराणसी 1975
द पोजिशन ऑव विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन (पुर्नमुद्रण) दिल्ली 1973
आढ़या, जी0एल0 अर्ली इण्डियन इकनॉमिक्स, न्यूयार्क 1966
आप्टे, वी0एम0 सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन द गृहय सूत्राज, बम्बई 1954
आयंगर, के0वी0 आर0 आस्पेक्टस ऑव ऐसेन्शिएण्ट इण्डियन इक्नॉमिक थॉट, बनारस 1934
आस्पेक्ट ऑव द सोशल एण्ड पोलिटिकल सिस्टम्स मनुस्मृति, लखनऊ 1949
ओझा, के0सी0 द हिस्ट्र ऑव फोरन रूल इन एन्शिएण्ड इण्डिया 1968
ओझा, ए00पी0 प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण, इलाहाबाद 1992
ओझा, आर0पी0 उत्तर भारतीय अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन ई0पू0 232 से 161 ई0 सन्
ओम प्रकाश प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास नई दिल्ली 1994

उपाध्याय-वासुदेव प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन दिल्ली 1961

उपाध्याय, जी0पी0 ब्राहमणाज इन ऐशिएण्ट इण्डिया, दिल्ली 1989

उपाध्याय, बी0एस0 भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, नई दिल्ली-1943

ओम प्रकाश अर्ली इण्डियन लैण्ड, ग्राण्टस एण्ड स्टेट इकॉनमी, इलाहाबाद 1988, कान्सेप्चुलाइजेशन एण्ड हिस्ट्र इलाहाबाद 1992

काणे, पी0वी0 धर्मशास्त्रों का इतिहास (हिन्दी अनुवाद-अर्जुन चौबे काश्यप) हिन्दी समिति, लखनऊ।

प्रसाद कामेश्वर सिटीज क्राप्टस एण्ड कामर्स अण्डर द कुषाणाज, दिल्ली 1982

कौशाम्बी, डी0डी0 इण्डियन न्यस्मेटिक, नई दिल्ली 1981 द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑव द ऐन्शिएण्ट इण्डिया इन हिस्टारिकल आउट लाइन लन्दन 1965

गोपाल, लल्लन जी, द इकॉनमिक लाइफ ऑव नार्दन इण्डिया-700 ई0 सन् 1200 ई0 दिल्ली 1965, वाराणसी आस्पेक्टस ऑव हिस्ट्री ऑव एग्रीकल्चर इन ऐशिएण्ट इण्डिया, वाराणसी 1980

केसरवानी, प्रदीप कुमार प्राचीन भारत में वैश्य समुदाय की स्थिति औरउसकी भूमिका, इलाहाबाद 1997

धुर्ये, जी0एस0 इण्डियन कस्टम, बम्बई-1952 कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, बम्बई 1969 वैदिक इण्डिया, बम्बई-1979

घोषाल, यू0एन0 स्टडीज इन ऐशिनाएण्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता-1965

चकलादार, एच0सी9 सोशल लाइफ इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया, कलकत्ता 1954

चकवत्री, हरिपद इंण्डिया एज रिफ्लेक्टेड इन द इंन्सक्रिप्शंस ऑव गुप्त पीरिएड, दिल्ली-1978 ट्रेड एण्ड कामर्स इन ऐन्सिएण्ट इण्डिया, कलकत्ता 1966

चौधरी राधाकृष्ण इक्नॉमिक हिस्ट्री ऑव एशिएण्ट इण्डिया

चट्टोपाध्याय, वी0 कृषाण स्टेट एण्ड इण्डियन सोसाइटी, कलकत्ता-1975 द एज ऑव द कुषाणाज ए- न्यूमिस्मेटिक स्टडी, कलकत्ता-1977

चट्टोपाध्याय वी0डी0 (सम्पा0) एसेज इन ऐन्शिएण्ट इण्डियन इकनॉमिक हिस्ट्री, नई दिल्ली'1987

चट्टोपाध्याय एस0 सोशल लाइफ इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया, कलकत्ता 1965

चानना, देवराज स्लेवरी इन एन्शिएण्ट इण्डिया, दिल्ली-1960

जायसवाल, के0पी0 मनु एण्ड यसाज्ञवल्क्य कलकत्ता 1930 हिन्दू पालिटी (द्वितीय संस्करण) बंगलौर, 1943

जायसवाल पी0के0 शक कालीन भारत,

जायसवाल, सुवीरा द ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑफ वैष्णविज्म दिल्ली-1967

जैन, के0सी0 प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं, म0प्र0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी 1976

झा, डी0एन0 ऐन्शिएण्ट इण्डिया ऐन इन्ट्रोडक्टरी आउट लाइन, दिल्ली 1977 रेवेन्यू सिस्टम इन पोस्ट मौर्यन एण्ड गुप्ताज एज कलकत्ता 1967

स्टडीज इन अर्ली इण्डियन इक्नॉमिक हिस्ट्री दिल्ली-1987

ठाकुर, विजय कुमार अर्गनाइजेशन इन ऐन्सिएण्ट इण्डिया नई दिल्ली 1982

तिवारी, गौरी शंकर उत्तर भारत के ब्राहमणों का सामाजिक अध्ययन, फैजाबाद 1982

त्रिपाठी, आर0पी0 स्टडीज इन पोलिटिक्ल एण्ड सोशियो-इक्नॉमिक हिस्ट्री ऑव अर्ली इण्डिया इलाहाबाद 1981

थपलियाल, उमा प्रसादफोरेन एलीमेन्ट्स इन एन्शिएण्ट इण्डियन सोसाइटी नई दिल्ली 1979

थपलियाल, के0के0 स्टडीज इन ऐन्शिएण्ट इण्डियन सील्स, लखनऊ 1972

थापर, रोमिला ऐन्शिएण्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री नई दिल्ली 1978

दास, एस0के0 इक्नॉमिक हिस्ट्री ऑव ऐन्शिएण्ट इण्डिया, (पुर्नमुद्रण) इलाहाबाद 1980,

विमेन इन मनु एण्ड हिज सेवेन कमेन्टेट्र्स वाराणसी 1961

दत्त, माला ए स्टडी ऑव द सातवाहन क्वानेज 1990

दत्त, एम0के0 ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑव कास्ट इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया जिल्द 1; 2, कलकत्ता 1965

दास, डी0आर0 इक्नॉमिक हिस्ट्री ऑव दकन-फ्राम द फर्स्ट टुद सिक्स्थ सेन्चुरी ए0डी0, दिल्ली 1971

दुबे हरिनारायण 'दक्षिण भारत का इतिहास' इलाहाबाद

निगम, एस0एस0 इक्नॉमिक आर्गनाइजेशन इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया दिल्ली, 1975

नेगी, जे0एस0 सम इण्डोलाजिक्ल स्टडीज, जिल्द-1 इलाहाबाद 1969

पार्जिटर, एफ0ई0 ऐन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिंशस (पुर्नमुद्रण) दिल्ली-1972

पाण्डेय, सी0डी0 साम्ब पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद 1986
पाण्डेय, सुस्मिता समाज अर्थ व्यवस्था एवं धर्म, भोपाल 1991
पाण्डेय, जय नारायण पुरातत्व विमर्श (द्वितीय संस्करण) इलाहाबाद 1988 भारतीय कला एवं पुरातत्व, इलाहाबाद 1989
प्राणनाथ ए स्टडीज इन द इक्नॉमिक कन्डिशनल ऑव ऐन्शिएण्ट इण्डिया, लन्दन 1929
पुरी, वी0एन0 इण्डिया अण्डर द कुषाणाज, कलकत्ता 1967 इण्डिया इन द टाइम ऑव पतंजलि, बम्ई 1957
बन्धेपाध्याय, एन0सी0 इक्नॉमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एन्शिपेन्ट इण्डिया, कलकत्ता 1925
बाजपेयी के0डी0 भारतीय व्यापार का इतिहास, मथुरा 1951
बाजपेयी रंजना सोसाइटी इन इण्डिया, दिल्ली 1992
बाशम, ए0एल0 द वण्डर दैद वाज इण्डिया, लन्दन 1954
बूच, एम0ए0 इक्नॉमिक लाइफ इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया बड़ौदा 1924
बोस, ए0एन0 सोशल एण्ड रुरल इक्नॉमिक ऑव नार्दन इण्डिया जिल्द 1-2 कलकत्ता 1942, 1967
भट्टाचार्य, एस0सी0 सम आस्पेक्टस आव इण्डियन सोसाइटी, नई दिल्ली-1978
मजूमदार, आर0सी0 कारपोरेट लाइफ इन एन्शियएट इडिया, कलकत्ता 1922 प्राचीन भारत में संगठिन जीवन (हिन्दी अनु0) के0डी0 वाजपेयी, सागर-1966 द क्लासिकल एज (।।।संस्करण) बम्बई 1970
मजूमदार वी0पी0 द सोशियो इकनॉमिक हिस्ट्री ऑव नार्दन इण्डिया, कलकत्ता 1960
मिश्र, जयशंकर प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास
मिश्र, श्याम मनोहर प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन, इलाहाबाद 1997
मिश्र, के0सी0 ट्राइप्स इन द महाभारत : ए सोशियोकल्चरल स्टडी, नई दिल्ली-1987
मोती चन्द्र 'सार्थवाह' पटना, 1953
मिश्र, रमानाथ प्राचीन भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था एवं धर्म (वैदिक काल से 300 ई0वी0सन् तक) भोपाल 1991
मुखर्जी, संध्या सम आस्पेक्ट्स ऑव सोशल लाइफ इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया, इलाहाबाद 1976

मुखर्जी, वी0एन0 — द इकानॉमिक फैक्ट्र्स इन कुषाण हिस्ट्री कलकत्ता 1970, द डिसइन्टिग्रेशन ऑव द कुषाण इम्पायर, वाराणसी–1976, मथुरा एण्ड इट्स सोसाइटी–द शुंग पहलव ऐज, कलकत्ता 1981

मैती, एस0के0 — अर्ली इण्डियन क्वायन्स एण्ड करेन्सी सिस्टम, दिल्ली 1970

यादव, बी0एन0एस0 — सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, इन द ट्रेवेल्स सेन्चुरी, इलाहाबाद 1973

राय, उदयनारायण — प्राचीन भारत में नगर एवं नगरजीवन, इलाहाबाद 1965

राय, जयमल — द रुरल, अरबन इक्नॉमिक एण्ड शोसल चेलेंज इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया (300 ए0डी0से0 600 ए0डी0) वाराणसी 1974

राय, एन0आर0 — मौर्य एण्ड शुंग आर्ट, कलकत्ता 1945

शर्मा, जी0आर0 — कुषाण स्टडीज, इलाहाबाद 1968

शर्मा, बी0एन0 — सोशल लाइफ इन नार्दन इण्डिया, दिल्ली 1966

शर्मा, आर0एस0 — इण्डियन फ्युडलिज्म (द्वितीय संस्करण) दिल्ली 1980, पर्स पेक्टिक्स इन सोशल एण्ड इक्नॉमिक हिस्ट्री ऑव अर्ली इण्डिया, दिल्ली 1983, पूर्व कालीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था पर प्रकाश (हिन्दी अनु0 गोविन्द झा द्वारा) दिल्ली 1978 सर्वे ऑव रिसर्च इन इक्नॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्र ऑव इण्डिया दिल्ली 1986

स्मिथ, वी0ए0 — अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, आक्सफोर्ड 1924

सरकार, डी0सी0 — स्टडीज इन इण्डियन क्वायन्स, दिल्ली 1960 (सम्पा0) लैण्ड सिस्टम एण्ड फ्युडलिज्म इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया; कलकत्ता 1966

सेन, वी0सी0 — इकनॉमिक्स इन कौटिल्य कलकत्ता 1942

कोश

इन्साइकलोपीडिया ब्रिटेनिका

द स्टुडेन्ट संस्कृत–इग्लिश डिक्शनरी: (सम्पा0) वी0एस0 आप्टे वाराणसी 1963

ए संस्कृत–इग्लिश डिक्शनरी : (सम्पा0) एम0 मोनियर विलियमस पुर्नमुद्रण, दिल्ली 1976

हिन्दी शब्द सागर–काशी नागरी प्राचारिणी, वाराणसी 1925

शोध-पत्रिकाएँ

आर्क्योलाजिक्ल सर्वे ऑव इण्डिया भारत सरकार द्वारा प्रकाशित (अनुअल रिपोर्ट)

इण्डियन कल्चर-कलकत्ता।

इण्डियन हिस्टारिक्ल क्वाटरली-कलकत्ता

एनाल्स ऑव भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट-पूना

इतिहास, आई0सी0एच0आर0-दिल्ली।

एकनॉमिक वीकली।

इकनॉमिक डेवलेपमेन्ट एण्ड कल्चरल चेन्ज।

एपिग्राफिया इण्डिका-भारत सरकार द्वारा प्रकाशित।

एन्शिएण्ट इण्डिया बुलेटिन ऑव आर्क्योलाजिक्ल सर्वे ऑव इण्डिया।

जर्नल ऑव द गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट-इलाहाबाद।

जर्नल ऑव इालाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज-इलाहाबाद।

जर्नल ऑव एशियायिक सोसाइटी ऑव बंगाल।

जर्नल ऑव बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी।

जर्नल ऑव न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑव इण्डिया बम्बई।

जर्नल ऑव द यू0पी0 हिस्टारिक्ल सोसाइटी।

जर्नल ऑव ऐन्शिएण्ट इण्डियन हिस्ट्री।

जर्नल ऑव द इकनॉमक एण्ड सोशल हिस्ट्र ऑव द ओरिएण्टल।

द इण्डियन इकनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू दिल्ली।

हिस्ट्र एण्ड आर्क्योलॉजी इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

प्रोसीडिंग्स ऑव द इण्डियन हिस्ट्र कांग्रेस।

भारतीय-बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय।

इण्डियन हिस्टारिक्ल रिव्यू-आई0सी0ए0आर0 दिल्ली।